इसलिए कृषक विष्णु भगवान है, जगतपालक है। वह उपार्जन करता है। इसके बाद खानों तथा कारखानों से कर्षण कर, खींचकर और वस्तुओं को परिपक्व तथा उपयोगी बनाकर समाज को देने वाले भी कृषक हैं।

मनुष्यों के भीतर से विद्या एवं कला-शक्ति का कर्षण कर, खींचकर उनके व्यक्तित्व पर उन्हें फैला देने वाले नाना विषयों के शिक्षक कृषक ही हैं। शिक्षकों के बिना मनुष्यों की अधिकतम शक्ति सोयी ही रहेगी। इतना ही नहीं, मनुष्यों के भीतर की आध्यात्मिक शक्ति, बोध, मानवीय गुणादि का कर्षण कर, खींचकर उन्हें उनके व्यावहारिक जीवन के अंग बना देने वाले आध्यात्मिक गुरु-संत महान कृषक हैं। भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा मानवीय शक्ति का कर्षण कर, खींचकर जो उन्हें व्यक्ति और समाज के कल्याणकारी उपयोग के लिए उपस्थित कर दे, वह कृषक है। वह उपार्जन करने वाला है। वह दूसरों द्वारा कुछ पाने का अधिकारी है। परन्तु जो दूसरे की किसी भी वस्तु की चोरी कर उसका उपभोग करता है या समर्थ रहते हुए भीख मांगकर खाता है, वह मानवता के प्रति द्रोह करता है। वह अपने आप को गड्ढे में ले जाता है। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं कि व्यर्थ का अन्न खाने वाला असावधान है। मैं सत्य कहता हूं वह अपना विनाश कर रहा है। जो न पूज्यों को खिलाता है और न मित्रों को, प्रत्युत केवल स्वयं खाता है वह केवल पाप ही खाता है।[1]

तुम समाज को भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक कोई कल्याणकारी वस्तु दो, तब तुम उससे कुछ पाने के अधिकारी हो। चोरी करके खाने वाले पापी हैं और समर्थ रहते हुए मांगकर खाने वाले भी पापी हैं। ऐसे लोग अपने मानसिक संसार-वृक्ष को हरा-भरा करते हैं। ऐसे लोगों का मन वासनाहीन नहीं हो सकता। ऐसे लोग तो अकर्तव्य कर तथा कर्तव्यहीन होकर अपने मन को मलिन बनाते हैं, अपने भव-बन्धनों को दृढ़ करते हैं। भिक्षावृत्ति पर रहने वाले वीतराग सन्तों पर यह भ्रम न होना चाहिए। वे तो समाज को बहुत बड़ा अध्यात्म धन देते हैं। वे अपने निर्मल दर्शन एवं पवित्र ज्ञान से समाज का बहुत बड़ा हित करते हैं। वे तो ज्ञानोपार्जन करने वाले कृषक ही हैं।

"पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार लै आवै॥" जो लोग बारम्बार संसार के धन, दौलत तथा स्वामित्व के लिए दौड़ते रहते हैं, उन्हीं का ध्यान करते हैं, उनके लिए भला-बुरा सब करते रहते हैं, वे उन्हीं वासनाओं में बंधे आज तो भटकते ही हैं, आगे भी उन्हें वे वासनाएं संसार में भटकायेंगी।

---

1. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋग्वेद 10/117/6)

कितने विमोहित लोग धन को जीवन-निर्वाह की वस्तु न समझकर उसे विलास, मर्यादा और स्वाभिमान की वस्तु समझते हैं। ऐसे लोग धन के लिए पाप भी करते हैं। लोग धन के लिए माता-पिता का गला काटते हैं, गुरु को मारते हैं, भाई का अधिकार छीनते हैं और किन्हीं भी दूसरों को ठगते हैं।

पति, साख, मर्यादा, स्वामित्व, मालिकत्व के लिए झूठ, फरेब, दगाबाजी, जालसाजी आदि का तांडव राजनीतिज्ञों में खुलासा देखा जा सकता है। संपत्ति और स्वामित्व के लिए लोग सारे पाप करने के लिए तैयार हो जाते हैं। दूसरों को पद से हटाकर स्वयं गद्दी पर आने के लिए ये राजनेता नामधारी सांप्रदायिक भावना उभड़वाकर दंगे करवाते हैं, निर्दोषों की हत्या करवाते हैं, विदेशी एजेंटों से मिलते हैं और पता नहीं क्या-क्या पाप करने के लिए तैयार रहते हैं।

इस संपत्ति और पति के मोह में साधु नामधारी गद्दी-महंती के लिए मुकदमें लड़ते हैं, हत्याएं करवाते हैं और सारा पाप करते हैं। जो इतने अभद्र नहीं हैं वे ऐसा जघन्य कृत्य तो नहीं करते, परन्तु अपने धन तथा गद्दी-मर्यादा के अहंकार में रात-दिन डूबे रहते हैं। बिरले विवेकवान संत इनके मद-मोह से दूर अपने तथा समाज के कल्याण-कार्य में रहते हैं। अतएव यह संपत्ति, मर्यादा एवं स्वामित्व का मोह जीव से सारे पाप करवाता है और उसे लोक-परलोक में भटकाता है। यह मन का संसार-वृक्ष जीव को पुनः-पुनः जगन्नगर में लाकर भटकाता रहता है। संसार की अहंता-ममता ही संसार में भटकाने का कारण है।

"झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार।" संसार झूठा है, मिथ्या है, इसे छोड़ दो। क्या सचमुच संसार झूठा तथा मिथ्या है? क्या ये भूमंडल, चांद, सूरज, सितारे सब झूठे हैं? उत्तर है कि भौतिक सत्ता अपने आप में सत्य है। यह सब मिथ्या और झूठा नहीं है। परन्तु हमारे अपने माने गये सारे प्राणी, पदार्थ, पद, मर्यादा, नाम, रूप पानी के बुलबुले के समान मिट जायेंगे। हमारा शरीर एक दिन नहीं रह जायेगा। इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परन्तु जब तक है तब तक सत्यवत ही है, इसलिए इसका व्यवहार सत्यवत करना पड़ता है। यदि भूख-प्यास लगी हो और हम साथियों से जल-भोजन मांग रहे हों और वे हमसे कहें कि शरीर तो झूठा है, एक दिन नहीं रह जायेगा, फिर जल-भोजन क्या करेंगे, तो यह सुनकर हमें बुरा लगेगा। अरे भाई ! जब शरीर मिटेगा तब वह सर्वथा झूठा होगा। आज तो वह सत्य है। भूख-प्यास प्रत्यक्ष पीड़ित कर रही हैं। अभी तो भोजन-जल चाहिए। मर जाने के बाद हमारा माना हुआ सारा व्यवहार हमारे लिए मिथ्या हो जाता है। परन्तु जब तक जीवन है, वह एकदम सत्य है। उसकी अवहेलना संभव नहीं है।

तब सद्गुरु ने उसे एकदम झूठा और मिथ्या मानकर उसे छोड़ देने के लिए क्यों कहा? सद्गुरु ने स्वयं इसका उत्तर अगली पंक्ति में दिया है "तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥" मैं इसे झूठा और मिथ्या समझकर इसलिए छोड़ देने के लिए कहता हूं जिससे तुम्हारा उद्धार हो। तुम संसार के बन्धनों से छूट जाओ। हमें जो कुछ मिला है और उसका जितना व्यवहार है, सब एक दिन छूट जाने वाला है। आज-कल में आंखें ढपने पर हमारा और इसका व्यवहार रत्ती भर भी नहीं रह जायेगा। हम इन सबको कुछ भी नहीं जानेंगे। शरीर सत्य है कुछ समय के लिए, परन्तु आज-कल में नष्ट हो जाने पर यह सदैव के लिए झूठा हो जायेगा। इस प्रकार इसकी सत्यता क्षणिक है और असत्यता अनंत। अतएव इसके मोह को हमें छोड़ देना है। मोह तभी छूटेगा, जब हम इसे अंततः झूठा समझेंगे।

बहुत सावधानी से हमें यहां संसार के प्रति झूठा और मिथ्या का अर्थ करना होगा। यहां शांकर मतानुसार संसार को मिथ्या एवं आकाश-पुष्पवत असत्य नहीं माना गया है। सद्गुरु का यह मत नहीं है कि संसार तीन काल में नहीं है। वस्तुतः संसार अपने क्षेत्र में नित्य है। वह परिवर्तनशील है। जीव से सर्वथा भिन्न है। जीव में जड़ तीनों काल में मिथ्या है। चेतन की अपनी सर्वथा भिन्न सत्ता है। मेरे चेतन-स्वरूप में जड़ सत्ता तीनों काल में नहीं है। इसलिए विवेक द्वारा हम जड़ सत्ता को अस्वीकार कर अपने चेतन स्वरूप में स्थित हों। यही शांति का पथ है।

धर्म, ईश्वर और शास्त्र पर विवेक

रमैनी-61

धर्म कथा जो कहतहि रहई। लाबरि उठि जो प्रातहि कहई॥ 1॥
लाबरि बिहाने लाबरि संझा। एक लाबरि बसे हृदया मंझा॥ 2॥
रामहु केर मर्म नहिं जाना। ले मति ठानिनि बेद पुराना॥ 3॥
वेदहु केर कहल नहिं करई। जरतइ रहे सुस्त नहिं परई॥ 4॥
साखी—गुणातीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।
माटी का तन माटी मिलिगौ, पवनहि पवन समाय॥ 61॥

शब्दार्थ—लाबरि=झूठी बातें। सुस्त=शांत। गुणातीत=गुणों से परे, निर्गुण। गँवाय=खोय।

भावार्थ—जो लोग धर्म की कथा कहते रहते हैं, वे तो मानो सुबह से उठकर झूठी-झूठी बातें ही करते रहते हैं॥ 1॥ वे सुबह झूठी बातें करते हैं और शाम को झूठी बातें करते हैं। अर्थात वे सुबह से शाम तक मानो झुठाई ही हांकते रहते हैं, क्योंकि उनके हृदय में मिथ्या मान्यताएं बसी हुई हैं॥ 2॥ वे

राम-राम तो बहुत कहते हैं, परन्तु उसका रहस्य नहीं समझते। वे वेद-पुराणों के उदाहरणों से अपना मत पक्का करते हैं॥ 3॥ परन्तु वेदों के कथनानुसार भी नहीं चलते। राग-द्वेष, अहंकार-कामना में सदैव जलते रहते हैं, क्षण मात्र भी शांत नहीं होते॥ 4॥

ये गुणातीत ब्रह्म का गीत गाते-गाते स्वयं को ही गवां बैठे हैं। अंत में शरीर छूट जाता है और मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है तथा हवा हवा में लीन हो जाती है॥ 61॥

व्याख्या—यह रमैनी आजकल के प्रगतिवादियों का आधारस्तम्भ बन सकती है। सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग धर्म-कथा कहते हैं, वे तो मानो झूठी बातें करने के लिए ठेका ही ले लिये हैं। एक व्यापारी, राजनेता तथा वकील जितना झूठ नहीं बोलता, उतना झूठ एक तथाकथित धार्मिक बोलता है। दूसरे लोग झूठ बोलने से बुरे माने जाते हैं, किन्तु धार्मिक जामा पहनकर यदि झूठ बोला जाये तो उस पर फूल-मालाएं चढ़ती हैं। कोई साधारण आदमी कह दे कि एक स्त्री के पेट से आज दस बच्चे पैदा हुए हैं, तो उसे लोग गप्पी कहकर मजाक में उड़ा देंगे; परन्तु जब एक धार्मिक व्यक्ति कथा की गद्दी पर बैठकर कहता है कि राजा सगर की पत्नी सुमति से एक ही साथ साठ हजार बच्चे पैदा हो गये[1], तब उसे गप्प कहने की हिम्मत होना बड़ा कठिन है।

यदि एक आदमी कहे कि एक बैलगाड़ी जा रही थी। उसके पहिए की लकीर से बीस फीट चौड़े तथा तीस फीट गहरे नाले बन गये, तो इसे कोई नहीं मानेगा, परन्तु व्यासगद्दी पर से कहा जाता है कि राजा प्रियव्रत के रथ के पहिए की लीक से पृथ्वी पर सात समुद्र बन गये[2], तो यह धर्म की बात होती है। क्योंकि यह धर्म की किताब में लिखी है। इसको अस्वीकारना धर्म का उल्लंघन होगा। यदि कोई कहे कि एक आदमी पांच सौ वर्ष से जीवित है, तो आप इसे झूठा मानेंगे और झूठा मानना ही चाहिए। परन्तु जब धर्म की गद्दी से कहा जाता

---

1. सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृताः॥
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन्।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे॥ (वाल्मीकीय रामायण 1/38/17-18)
अर्थात—विश्वामित्र श्री राम से कहते हैं कि हे पुरुषसिंह राम ! सगर की रानी सुमति ने अपने गर्भ से एक तुम्बा पैदा किया। उसको फोड़ने से उसमें से साठ हजार बच्चे निकले। धायों ने उन्हें घी से भरे घड़ों में डालकर उनका पालन किया। जब काफी समय बीत गया, तब वे सब बच्चे जवान हो गये।

2. ये वा उ ह तद्-रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः। (भागवत 5/1/31)
अर्थात—राजा प्रियव्रत के रथ के पहिए से खुदकर उस समय जो लीकें बनीं वे ही सातों समुद्र बन गये। इससे पृथ्वी पर सात द्वीप बन गये।

है कि राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज किये[1] तब इसे झूठा कहकर कौन अधर्मी बने !

हनुमान जी ने पृथ्वी से तेरह लाख गुणा बड़ा दहकते हुए सूरज को निगल लिया था। सूरज एक महीने के लिए रुककर अयोध्या में श्री राम-जन्मोत्सव देखने लगा था। श्री राम की सेना में अठारह पद्म सेनापति थे। भरत जब चित्रकूट के तीर्थदर्शन में चले तब पृथ्वी ने कांटे-कंकड़ों को अपने पेट में समेटकर तल कोमल कर दिया। सारे पेड़ फल गये। शीतल, मंद, सुगंध वायु चलने लगा। पक्षी बोलकर तथा पशु देखकर भरत का स्वागत करने लगे। वृत्रासुर के शरीर की चौड़ाई सौ योजन (करीब बारह सौ किलोमीटर) एवं उसके शरीर की ऊंचाई तीन सौ योजन (करीब छत्तीस सौ किलोमीटर) थी।[2] श्री कृष्ण के सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियां थीं, परन्तु गर्ग संहिता के अनुसार खरबों पत्नियां थी। जिनकी महाभारत में चर्चा नहीं है।

अमुक महात्मा की आज्ञा के काठ की चौकी तथा दीवार चलने लगी, बैल-भैंस वेद-मन्त्र उच्चारण करने लगे। उन्होंने मुरदे को जिला दिया। वे कहीं सूक्ष्म तथा कहीं विराट रूप धारण कर लिये। संत ईसा ने दस-पांच रोटियों से कई हजार लोगों को पेट भर खिला दिया। हजरत मुहम्मद ने अपनी उंगली चमकाकर क्षण मात्र के लिए चांद के दो टुकड़े कर दिये। अमुक ऋषि-मुनि के शाप से मनुष्य, नगर, जंगल जल गये और आशीर्वाद से संतान, धन, राज-काज मिल गये। मंत्र के बल पर सारी सिद्धियां मिल जाती हैं। तन्त्र के बल पर किसी का विनाश तथा किसी का लाभ किया जा सकता है। राम, कृष्ण, कबीर अनंत ब्रह्मांडनायक ब्रह्म हैं, ईसा ईश्वर के पुत्र हैं, मुहम्मद ईश्वर के संदेशवाहक हैं। कहां तक गिनाया जाये। चमत्कार जो छलावा है, धर्म के नाम पर व्याप्त है। बुद्ध और महावीर आदि तीर्थंकरों की बड़ाई में बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में जो मिथ्या महिमाओं तथा ढोंग-ढकोसलों से पूर्ण उपाख्यान भरे हैं, उन्हें पढ़-सुनकर शर्म लगती है।

जब पंडित, मुल्ला, पादरी, ज्ञानी जी, महात्मा जी धर्मोपदेश की गद्दी पर बैठते हैं, तब वे धर्म (मानवता तथा वस्तुपरक ज्ञान) का उपदेश कम, जादुई बातें, चमत्कार और ढकोसले की बातें ज्यादा करते हैं, "हमारे गुरुजी या महात्मा जी एक ही साथ कई जगह दिखाई देते हैं। वे अपने आशीर्वाद से सब

---

1. जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहत्। (भागवत 5/1/29)
   अर्थात—राजा प्रियव्रत ने ग्यारह अरब वर्ष तक निर्विघ्न शासन किया।
2. विस्तीर्णो योजनशतमुच्छ्रितस्त्रिगुणं ततः। (वाल्मीकीय रामायण 7/84/5)
   अर्थात—वृत्र असुर सौ योजन चौड़ा तथा तीन सौ योजन ऊंचा था।

कुछ कर सकते हैं। हमारे गुरुजी भगवान के अवतार हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं और पता नहीं क्या-क्या हैं।"

कबीर साहेब ने सारे पाखंडों एवं चमत्कारों का खंडन किया, तो उनके नाम पर बने पंथ और परंपरा में—नानक, दादू, दरिया, घीसा, पलटू, जगजीवन आदि सब सन्तों के साथ भक्तों द्वारा खूब चमत्कार जोड़ा गया। धार्मिक नामधारियों की मानो चमत्कार ही रोटी है। आप कहीं धार्मिक कथा-उपदेश की मंडली में बैठ जाइए, तो मंच पर चाहे व्यास जी हों या रामायणी जी, महात्मा जी हों या ज्ञानी जी, पंडित जी हों या मुल्ला जी या पादरी जी—ये सब एक दूसरे के भाई-बिरादर हैं। प्रायः सारी धर्मकथाओं में एक ही जैसे ढोंग-ढकोसले, चमत्कार, आशीर्वाद-शाप, तर्क-विवेक एवं बुद्धि के विरुद्ध अवैज्ञानिक मान्यताओं का बोलबाला देखेंगे।

आजकल तो चतुर लोगों का एक बड़ा दल अवतार बन बैठा है। अधिकतम राजनेता नामधारी दिग्भ्रमित हैं। वे तन्त्र-मन्त्र के ढकोसलों में फंसे एक-एक तांत्रिक तथा ज्योतिषी नामधारी को लिये घूमते हैं और धूर्त अवतारों के यहां सिजदा पड़ते हैं। सोखा-ओझा, तांत्रिक आदि के जन्म का मूल यह अन्धविश्वासपूर्ण धर्म-कथा ही है।

यज्ञ के नाम पर आग में घी, मेवे, अन्न फूंकने से बड़ी-बड़ी उपलब्धियां मानी गयीं। पहले समय में पशु भी काटकर होमे जाते थे। आज भी ईश्वर तथा देवता के नाम पर मुसलमानों तथा हिन्दुओं के यहां पशु मारे जाते हैं। शकुन-अपशकुन, चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धि आदि सब धर्म-कथा के फल हैं।

धर्मग्रन्थ एवं धर्मकथा की ऊटपटांग बातों पर कोई प्रश्न न कर दे, इसके लिए तथाकथित धार्मिक लोग बड़े सावधान रहते हैं। वे पोथियों को उस तथाकथित ईश्वर-रचित या उसके भेजे हुए मानते हैं, जिसका पता-लता आज तक किसी को नहीं मिला है। या कहते हैं कि धर्मशास्त्र त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ ऋषियों की रचनाएं हैं। वस्तुतः सारी किताबें मानव-रचित हैं वे चाहे वेद हों या बाइबिल, कुरान हो या अन्य धर्मग्रन्थ। अतएव कोई भी किताब स्वतः प्रमाण नहीं। सारी किताबों की सारी बातों पर मनुष्य का विचार करना उसका कर्तव्य एवं अधिकार है।

संसार के मूल द्रव्य जड़ और चेतन में अन्तर्निहित अपने-अपने गुण-धर्म हैं। वे ही विश्व के शाश्वत नियम हैं। सर्वत्र कारण-कार्य-व्यवस्था है जो मूल द्रव्यों के स्वभावगत है। इसलिए संसार में कहीं भी चमत्कार की गुंजाइश नहीं है। इस जड़-चेतन के अलावा कोई भगवान या शैतान नहीं जो कुछ-का-कुछ कर दे। चमत्कार एवं अतिमानवीय सारी बातें मानव-समाज के साथ एक छलावा है।

सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग धर्म की कथा कहते रहते हैं, वे महिमा के नाम पर झूठी बातें ही करते रहते हैं। क्योंकि उनके मन में वे ही बातें हैं। जब वक्ता स्वयं निर्भ्रांत नहीं होगा, तब वह समाज को निर्भ्रांत विचार कैसे दे पायेगा। अज्ञान, अंधविश्वास, भ्रम एवं स्वार्थ-वश बड़े-बड़े विद्वान नामधारी व्यासगद्दियों पर अजीबोगरीब बातें करते हैं।

"रामहु केर मर्म नहिं जाना" यहां 'राम' शब्द से 'रूढ़ राम' का ही अर्थ नहीं समझना चाहिए; किन्तु यहां राम का अभिप्राय है 'ईश्वर'। लोग बात-बात में ईश्वर की दोहाई देते हैं—"ईश्वर जो चाहेगा वही होगा। हम कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह हमसे जो कराता है वही हम करते हैं। प्रभु की इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। हम तुच्छ ना-चीज।" तब क्या इन धारणाओं से यह साफ नहीं हुआ कि समाज में चोरी, व्यभिचार, हत्या, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, घूस, धर्मोन्मादकृत मासूमों की हत्या—सब कुछ ईश्वर ही करा रहा है। यदि आदमी तुच्छ है, तो श्रेष्ठ कौन है?

राम-राम, ईश्वर-ईश्वर, अल्ला-अल्ला, गॉड-गॉड कहो, बस सारे पाप कट जायेंगे। उसकी खुशामद तथा प्रार्थना करने से वह हमारे लिए सारी सुखद व्यवस्था कर देगा; यह सब राम को, ईश्वर को न समझना है। पहली बात तो मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई राम-रहीम नहीं है। दूसरी बात संसार के नियमों को देखकर जो उससे अलग नियामक का भ्रम होता है, वह वस्तुबोध न होने का फल है। संसार के सारे नियम वस्तुगत हैं। अधिक खाने से पेट खराब होगा ही। इससे बचने के लिए प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भोजन में संतुलन की आवश्यकता है। राग-द्वेष, पर-दोष-दर्शन, पर-पीड़ा, स्वार्थांधता एवं विषयासक्ति रखने से मन में अशांति रहेगी ही। यह अशांति पूजा, प्रार्थना, गंगास्नान, तीर्थाटन, मंदिर-दर्शन आदि से नहीं जायेगी। इस सब में क्षणभर के लिए सात्त्विक आनन्द आ जायेगा, परन्तु पीछे वैसी की वैसी अशांति बनी रहेगी। स्थायी शांति के लिए तो राग-द्वेषादि दोषों को मन से सर्वथा निकाल देना होगा।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम-राम तथा ईश्वर-ईश्वर तो कहते हैं, परन्तु उसका रहस्य नहीं समझते। उसका रहस्य है आत्मज्ञान, जगत के नियमों का बोध एवं जीवन में पवित्राचरण। यह न कर "ले मति ठानिनि बेद पुराना" अर्थात धर्मशास्त्रों की भावुक बातों का उदाहरण देकर ईश्वर सम्बन्धी उलटी-सीधी बातों को पुष्ट करते हैं।

यहां 'वेद पुरान' का शाब्दिक अर्थ न लेकर लक्षणा अर्थ समझना चाहिए 'सारे धर्मग्रन्थ'। हजारों वर्ष से दुनिया के धर्मग्रन्थों में ईश्वर के विषय में इतनी भावुकतापूर्ण बातें लिखी गयी हैं कि जिसने मनुष्य समाज को विवेक,

तत्त्वचिंतन, वस्तुज्ञान, आत्मबोध तथा सदाचार से हटाकर अकर्मण्य बना दिया है। जब नाम-जप मात्र से सारे पाप कटते, सारे काम बनते तथा लोक-परलोक सुधरते हैं तब तत्त्वचिंतन, स्वरूपज्ञान एवं सदाचार की आवश्यकता ही क्या है! सभी लोग सस्ते में सब काम चाहते हैं। काहिलों ने ईश्वर की रचना ही इसीलिए की है, कि उन्हें स्वयं कुछ न करना पड़े। बस, ईश्वर की थोड़ी खुशामद कर या एक-दो लड्डू उसे चढ़ाकर उससे सारे काम करा लिये जायें। और ऐसी बातें संसार के सभी ईश्वरवादी धर्मग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। अतएव सभी मतवादी यह दोहाई देते फिरते हैं कि हमारे शास्त्रों में ऐसा लिखा है।

"वेदहु केर कहल नहिं करई" यहां भी वेद से अभिप्राय सभी धर्मग्रन्थ हैं। सद्गुरु कहते हैं लोग अपने मान्य धर्मग्रन्थों के सही आदेशों का भी पालन नहीं करते। क्योंकि कोई भी धर्मग्रन्थ हो, उसमें केवल काल्पनिक बातें ही नहीं भरी रहती हैं, किन्तु जगह-जगह सचाइयां और नैतिकता की बातें भी रहती हैं, परन्तु लोग उन पर न ज्यादा ध्यान देते हैं न उनका आचरण करते हैं। उन्हें "ना काहुइ कोइ सुख दुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥" तथा "स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते" आदि तथ्यपूर्ण विचारों से वास्ता नहीं रहता। उन्हें तो चाहिए "तेरी सत्ता के बिना, हे प्रभु मंगलमूल। पत्ते भी हिलते नहीं, खिले न कोई फूल॥" तथा "चाारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥" या "नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं" आदि। इसलिए—

"जरतई रहे सुस्त नहि परई" लोग धर्म, ईश्वर तथा धर्मग्रन्थों के भक्त होते हुए भी सत्यज्ञान और सदाचरण के अभाव में सदैव मनस्ताप में जलते रहते हैं। धार्मिक पाखंड, ईश्वर की भक्ति तथा धर्मशास्त्रों की पक्षधरता बहुत बढ़ गये हैं। यदि कुछ घटा है तो वह है तत्त्वचिंतन, कार्यकारण-व्यवस्था का ज्ञान, स्वरूपबोध, पवित्र आचरण और शान्ति। क्योंकि "रोग कछु और दवा कछु औरे" हो रहे हैं। चाहिए आत्मज्ञान, आत्मविश्वास तथा आत्मशुद्धि का प्रयास करना, तो हम बाहर एक देव खड़ाकर उसके सामने माथा टेककर सारी सफलताएं चाहते हैं।

"गुणातीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।" बड़ी मार्मिक पंक्ति है। कोई भी द्रव्य बिना गुण के नहीं रहता। यदि ईश्वर या ब्रह्म गुणातीत है, उसमें कोई गुण नहीं है, तो वह कोई द्रव्य नहीं है। जब वह कोई द्रव्य नहीं है, तब वह केवल मन की कल्पना ही है। ऐसे गुणातीत के गीत गाते-गाते लोग स्वयं को ही खो देते हैं। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है—"वहां आंखें नहीं पहुंचतीं, न वाणी तथा मन ही पहुंचते हैं। हम उसे नहीं जानते, इसलिए नहीं समझते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह ज्ञात तथा अज्ञात से परे है। बस, हम इतना

ही कह सकते हैं कि हमने अपने से पहले होने वाले ज्ञानियों द्वारा उसकी ऐसी ही व्याख्या सुनी है।"[1]

यदि ब्रह्म हमसे अलग है और उक्त कथनानुसार हमारे मन, बुद्धि तथा वाणी से परे और अज्ञात है, तो उसका हमारा सम्बन्ध कैसे हो सकता है! सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे ब्रह्म का गीत गाते-गाते लोग स्वयं खो जाते हैं। वे अपनी सत्ता-महत्ता को भूल जाते हैं। लोग जीवनभर ब्रह्म के गीत गाते हैं, उसकी तलाश करते हैं जिससे किसी की मुलाकात नहीं हुई और न हो सकती है और जो स्वस्वरूप चेतन तत्त्व है उस पर लोग सोचते ही नहीं। यह कितना आत्मघात है! गुणातीत एवं शून्य को खोजते-खोजते अपने आप के विषय में असावधान बने रहना अभाग्य है।

वस्तुतः अपनी आत्मा, अपनी चेतना, अपना चेतन-स्वरूप मन, बुद्धि, वाणी से परे है और उनका प्रकाशक है और यदि इसे ही ब्रह्म कहा जाये तो इसे खोजना नहीं है। इसके लिए कोई संदेह नहीं है। यह तो मैं ही हूं। परन्तु लोग एक गुणातीत ब्रह्म अपने से अलग मानते हैं और उसकी कल्पना में पड़कर अपने आप का बोध खो देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने आप को समझो। तुमसे बड़ा कोई ब्रह्म नहीं है। यदि कल्पना के ब्रह्म के चक्कर में पड़ोगे तो इसी में जीवन बीत जायेगा और तुम्हारा शरीर मिट्टी में मिल जायेगा, परन्तु तुम्हें कुछ हाथ नहीं लगेगा—"माटी का तन माटी मिलिगौ, पवनहि पवन समाय॥"

इस रमैनी में सद्गुरु कबीर ने धर्म, ईश्वर और शास्त्र के नाम पर चलते हुए अन्धविश्वास एवं बेहूदेपन का खंडन किया है। उनके ख्याल से मानवता ही धर्म है, आत्मा ही परमात्मा है और शास्त्रों के वचनों की कसौटी मानव-विवेक है।

ऊंच-नीच-रहित मानव समान है

रमैनी-62

जो तू करता बर्ण बिचारा। जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा॥ 1॥
जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेऊ घालि जग धन्दा॥ 2॥
जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया। और राह दे काहे न आया॥ 3॥
तो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया॥ 4॥

---

1. न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात् अन्यद् एव तद् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् 1/3)

कारी पियरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई॥ 5॥
छाडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंग पानी॥ 6॥

शब्दार्थ—तीन दण्ड=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुमार के लिए क्रमशः पलाश, गूलर तथा बेल के दण्डे। अनुसारा=प्राकृतिक अवस्था। कृतम=कृत्रिम, बनावटी। धन्दा=व्यवसाय। सुन्नति=सुन्नत, खत्नः, पुरुष की पेशाब इन्द्रिय के अग्रभाग की खाल काटना, मुसलमानी। भजु=भज्, बांटना; स्वीकारना; छांटना-चुनना, जैसे 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते' (मालविकाग्नि 1/2)—संत परीक्षा करके चुनते हैं; सेवा करना; स्मरण करना। सारंगपानी=हाथ में धनुष धारण करने वाला।

भावार्थ—यदि तुम वर्णव्यवस्था का विचार करते हो कि यह ईश्वरीय है, तो जन्मते ही ब्राह्मण के बच्चे को पलाश का, क्षत्रिय के बच्चे को गूलर का तथा वैश्य के बच्चे को बेल का दण्डा लेकर प्राकृतिक अवस्था में आना चाहिए, या दण्ड, मेखला और यज्ञोपवीत इन तीनों को, जो त्रिवर्ण द्विजातियों के चिह्न हैं पैदा होने के साथ ही माता के पेट से लेते आना चाहिए था॥ 1॥ परन्तु तथ्य यह है कि हर बच्चा जन्मकाल में संस्कार-रहित अशुद्ध शूद्र रहता है तथा मरने पर भी संस्कार-विहीन अशुद्ध शूद्र हो जाता है। केवल बीच में बनावटी जनेऊ गले में डालकर अपने व्यवसाय करते हैं॥ 2॥ यदि तुम्हें अहंकार है कि हम जन्मजात ब्राह्मण हैं और ब्राह्मणी से पैदा हुए हैं तो तुम किसी दूसरे रास्ते मुख आदि से क्यों नहीं आ गये, जिससे "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्"[1] सिद्ध हो जाता॥ 3॥ और हे मुसलमानो! यदि तुम्हें अपने आप के विषय में जन्मजात मुसलमान होने का गर्व है और तुम यह समझते हो कि तुम मुसलमानिन से जन्म लिये हो, तो माता के गर्भ में से ही सुन्नत कराकर क्यों नहीं आये?॥ 4॥ काले रंग की गाय तथा पीले रंग की गाय को दुहकर दूध पात्र में रख लो, तो क्या उन दोनों दूधों के स्वरूपों को भिन्न-भिन्न बता सकोगे? गाय किसी रंग की हो, सबका दूध सफेद रहता है, इसी प्रकार ब्राह्मण-शूद्र तथा हिन्दू-मुसलमान नाम कुछ भी हो, सबके शरीर के तत्त्व एक-से तथा सबके भीतर चेतना एक-सी है॥ 5॥ अतएव हे मनुष्यो! अपने आप को जन्मजात श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए जो तुम कपट और ज्यादा चालाकी करते हो, उन्हें छोड़ दो और सारंगपाणि का भजन करो॥ 6॥

व्याख्या—कुछ लोग ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि वर्णव्यवस्था ईश्वरकृत या स्वयंभू है। वे मानते हैं कि ब्राह्मण श्रेष्ठ, क्षत्रिय उससे नीच, वैश्य उससे

1. ऋग्वेद 10/90/12।

नीच तथा शूद्र सबसे नीच बनाकर भगवान ने भेजा है। वेद, गायत्री, यज्ञोपवीत आदि में अधिकार केवल प्रथम त्रिवर्ण को है, शूद्र को नहीं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है—"ईश्वर ने गायत्री छंद से ब्राह्मणों को बनाया, त्रिष्टुप छंद से राजन्य (क्षत्रियों) को और जगती छंद से वैश्यों को बनाया; परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छंद से नहीं बनाया। इसलिए शूद्र यज्ञोपवीत-संस्कार के लिए अयोग्य है।"[1] यह सब कितने पक्षपाती तथा अज्ञानपूर्ण वचन हैं। आज के युग में यह सब समझ सकते हैं कि मानव मात्र की पैदाइश एक ढंग से है। कोई इनसान छंद से नहीं बनाया जाता है, किन्तु माता-पिता के रज-वीर्य से माता के गर्भाशय में बनकर पैदा होता है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यदि वर्णव्यवस्था स्वयंभू है, तो "जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा।" ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के बच्चे जन्मते ही स्वाभाविक ढंग से द्विजातियों के चिह्न अपने दण्ड लेकर क्यों नहीं पैदा हुए?

वैदिक धर्मशास्त्रों में बताया गया है कि गर्भाधान काल से लेकर जब ब्राह्मण का बालक आठ वर्ष का, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष का तथा वैश्य का बारह वर्ष का हो, तब उनके उपनयन संस्कार हों। वैसे क्रमशः सोलह, बाइस तथा चौबीस वर्ष की उम्र तक भी हो सकते थे।[2] यज्ञोपवीत-संस्कार काल में हर ब्रह्मचारी को एक दण्ड (डंडा) धारण करना पड़ता था। उसमें भी भेद था। आश्वलायन गृह्यसूत्र[3] के अनुसार ब्राह्मण-बालक पलाश का दंड धारण करे, क्षत्रिय-बालक गूलर का तथा वैश्य-बालक बेल का। इसमें अन्य गृह्यसूत्रों का मतभेद है।

आप देख रहे हैं कि इस वर्णव्यवस्था के कुचक्र ने केवल शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को ही अलग नहीं रखा, किन्तु तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के बच्चों में भी हर बात में अन्तर बनाये रखा, जिससे कि इनमें भी ब्राह्मणों की वरीयता बनी रहे। आपने ऊपर देखा ही है कि तीनों वर्णों के बच्चों के उपनयन संस्कार[4] भिन्न-भिन्न अवस्था में होना चाहिए। सबके दंड भी एक लकड़ी के नहीं होने चाहिए। इतना ही नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के दंड एक बराबर नहीं होने चाहिए। ब्राह्मण का दंड सिर तक, क्षत्रिय का मस्तक तक

---

1. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यों विज्ञायते। (वसिष्ठ धर्मसूत्र 4/3)
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/19/1-6।
3. वही 1/19/13 तथा 1/20/1।
4. उपनयन का पहला अभिप्राय है 'पास ले जाना' अर्थात गुरु के पास ले जाना। दूसरा अभिप्राय है विधिवत यज्ञोपवीत करना। तीसरा अर्थ है उप=दूसरा+नयन=नेत्र—ज्ञान का नेत्र।

और वैश्य का नाक तक।[1] किन्तु शांखायन ने इसे उलटकर कहा है कि ब्राह्मण का दंड छोटा, क्षत्रिय का उससे बड़ा तथा वैश्य का उससे भी बड़ा होना चाहिए।[2] इन दंडों की उपयोगिता ठीक बतायी गयी है—"ये दंड सहारे के लिए, गुरु की गायों को नियंत्रित रखने के लिए तथा अंधियारे में सुरक्षा के लिए या नदी आदि जलाशयों में होकर निकलने पर रास्ता टटोलने के लिए रखे जाते थे।[3]

सद्गुरु कहते हैं कि त्रिवर्ण जन्मजात द्विज हैं, तो ये पैदा होते ही अपने दण्ड लेकर माता के पेट से क्यों नहीं निकले?

उक्त त्रिवर्ण के यज्ञोपवीत में चार चीजें मुख्य थीं—वस्त्र, दंड, मेखला तथा यज्ञोपवीत। परन्तु सबमें भेद रखा जाता था। ब्रह्मचारी को दो वस्त्र धारण करना होता था। एक 'वासस्' (कमर से पहना जाने वाला कपड़ा-लुंगी) तथा दूसरा 'उत्तरीय' (कंधे से ओढ़ा जाने वाला)। ब्राह्मण के वस्त्र पटुआ के सूतों का, क्षत्रिय के वस्त्र सन के सूतों का तथा वैश्य के वस्त्र मृगचर्म होते थे।[4] कुछ के मतों के अनुसार सभी वर्णों के आधे वस्त्र रुई के सूतों के होने चाहिए, परन्तु वे ब्राह्मणों के लिए लाल रंग, क्षत्रियों के लिए मजीठ[5] रंग और वैश्यों के लिए हल्दी रंग होना चाहिए। इन लेखकों के इनमें विमत भी हैं।

'मेखला' कमर में पहनते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए क्रमशः तीन वस्तुओं से बने भिन्न प्रकार के मेखला होते थे। वे क्रमशः इस प्रकार थे—मूंज से बना, मौर्वी (जिससे धनुष की डोरी बनती है) से बना तथा पटुआ से बना।[6]

यज्ञोपवीत द्विजातियों के लिए मुख्य चीज मानी गयी। उसमें भी सबके लिए अन्तर है—ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत कपास की रुई से बने हुए सूतों का हो, क्षत्रियों का सन के सूतों का तथा वैश्यों का भेड़ के बाल से बने सूतों का होना चाहिए।[7] अर्थ यह कि हर जगह द्विजातियों में भी भेदभाव की दीवार बनाये रखना जरूरी था।

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/19/13; गौतम 1/25; वसिष्ठ धर्मसूत्र 11/55-57; पारस्कर गृह्यसूत्र 2/5; तथा मनु 2/46। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 213।
2. शांखायन गृह्यसूत्र 2/1/21-23।
3. तत्र दण्डस्य कार्यमवलम्बनं गवादिनिवारणं तमोवगाहनमप्सु प्रवेशनमित्यादि। (अपरार्क)
4. आपस्तंब धर्मसूत्र 1/1/2/39; 1/1/3/1-2।
5. मजीठ एक लता है जिसे उबालकर उसका रंग निकाला जाता है।
6. गौतम 1/15; आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/19/11; बौधायन गृह्यसूत्र 2/5/13; मनुस्मृति 2/42; काठक गृह्यसूत्र 41/12; भारद्वाज1/2।
7. मनुस्मृति 2/44।

यज्ञोपवीत पर थोड़ा विचार कर लें। वेदों को पढ़ने से यज्ञोपवीत का पता नहीं लगता। पीछे यजुर्वेद (16/17) में एक जगह आया है 'नमो हरिकेशोपवीतिने' अर्थात काले बाल तथा यज्ञोपवीत धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। ऐसा लगता है कि पहले समय में आर्य लोग उत्तरीय (चादर) ओढ़कर यज्ञ करते थे। वे क्रमशः भारत के गरम क्षेत्र में फैलते गये और तब यज्ञ में कुछ लोग बिना चादर ओढ़े बैठने का प्रयास करने लगे। इसलिए बुजुर्गों ने डांटा होगा और लोगों का यह प्रयास बराबर देखकर समाज से समझौता किया होगा कि भाई, यदि चादर नहीं ओढ़ सकते तो कंधे पर एक सूत डाल लें। तब से यह प्रचलित हुआ होगा। यशस्वी पंडित एवं लेखक भारतरत्न, महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"अतः ऐसी कल्पना करना उचित ही है कि बहुत प्राचीन काल में सूत्र धारण नहीं किया जाता था; आरम्भ में उत्तरीय (चादर) ही धारण किया जाता था। आगे चलकर सूत्र भी, जिसे हम जनेऊ कहते हैं प्रयोग में आने लगा।" ..."यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं, जिनमें प्रत्येक सूत्र में नौ धागे (तन्तु) होते हैं जो भली-भांति बटे एवं माजे हुए होते हैं। देवल में नौ तन्तुओं के नौ देवताओं के नाम लिखे हैं, यथा—ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं विश्वेदेव।"[1]

यज्ञोपवीत धारण करते समय जिस प्रसिद्ध मंत्र का उच्चारण किया जाता है "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं..." वह पहले-पहल बौधायन गृह्यसूत्र में मिलता है जो ईसा के चार सौ वर्ष के पूर्व काल की रचना है। वहीं से पीछे बैखानस में आया।[2] पारसी लोग भी कमर में लुंगी तथा गले में मेखला पहनकर उपासना करते हैं। मक्का में कमर में सफेद लुंगी पहनकर तथा ऊपर सफेद उत्तरीय (चादर) ओढ़कर ही उपासना करने का रस्म है।

ये रस्म मनुष्य समय-समय से अपने विचार एवं सुविधा के अनुसार बनाते हैं। ये संस्कार, वेष, विधान आदि न स्वयंभू होते हैं न अजर-अमर होते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि कोई माता के पेट से ही द्विज तथा ब्राह्मण बनकर संस्कार-वेष के सहित नहीं पैदा हुआ है। किसी उदार पंडित ने भी कहा है—"जन्म से सब शूद्र होते हैं, संस्कार ग्रहण करने पर द्विज कहलाते हैं, विद्याध्ययन कर लेने पर विप्र तथा ब्रह्मज्ञ हो जाने पर ब्राह्मण हो जाते हैं।"[3]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग, 1, पृष्ठ 217-218।
2. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
   आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।
   (बौधायन गृह्यसूत्र 2/5/7-8 तथा बैखानस 2/5)
3. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
   विद्यया याति विप्रत्वं ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

सद्गुरु कहते हैं "जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेऊ घालि जग धन्दा॥" जन्मकाल में अबोध और मलिनता में लिपटा हुआ द्विज या ब्राह्मण नामधारी का भी बच्चा शूद्र ही रहता है और जब जीव शरीर से निकल गया, तब पुनः वही दशा आ गयी मलिनता की। केवल बीच में बनावटी जनेऊ पहनकर संसार में कर्मकांड का व्यवसाय किया जाता है और रोब गांठा जाता है कि हम द्विज एवं ब्राह्मण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा तो कोई भी मनुष्य कर सकता है। द्विजत्व तथा ब्राह्मणत्व कुछ वर्ग की ही ठेकेदारी में क्यों? अतएव पूरे मानव की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं है।

"जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया। और राह दे काहे न आया॥" सद्गुरु कबीर यहां मिथ्या वर्णाभिमान को झकझोर देते हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम स्वयंभू ब्राह्मण हो और ब्राह्मणी से पैदा हुए हो, तो जिस रास्ते से सभी लोग पैदा होते हैं, उसी से क्यों पैदा हुए? तुम माता के मुख आदि दूसरे रास्ते से पैदा हो जाते, तो तुम्हारी ज्यादा प्रामाणिकता होती।

वर्णव्यवस्था को तथाकथित ईश्वरप्रदत्त सिद्ध करने के लिए लोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का मंत्र ठोक देते हैं और कहते हैं देखिए साहेब, हमारे ईश्वररचित वेद में लिखा है—"उस विराट पुरुष ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुए।"[1] पहले तो यह समझ लेना चाहिए कि कोई पुस्तक ईश्वर नहीं बनाता है। सारी पुस्तकें मानवकृत हैं। दूसरी बात है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक आर्यों को यह बात नहीं सूझी थी कि मनुष्यों में चार फांक किया जाये। वे अपने आप को आर्य और दूसरों को अनार्य उसी तरह मानते थे, जैसे विजेता अंग्रेज अपने को श्रेष्ठ तथा काले भारतीयों को हेय। परन्तु मूल आर्यों में कोई वर्णव्यवस्था नहीं थी। यह बात जब पीछे सूझी तब पहले एक विराट पुरुष की कल्पना की गयी और फिर उसके मुख, हाथ, जंघे एवं पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को पैदा कर दिया गया। और इस आशय का एक सूक्त बनाकर जिसमें सोलह मंत्र हैं ऋग्वेद के दसवें मंडल में पीछे से रख दिया गया, जो 90वां सूक्त हो गया। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस सूक्त के सारे मंत्रों को आप पढ़ डालिए तो आपको पता लगेगा कि इस पुरुष सूक्त के सारे मंत्र कितने सरल हैं। ऋग्वेद की भाषा कठिन है। आदमी अपनी सुविधा के लिए भाषा को कठिनता से सरलता की तरफ ले जाता है। वेदों में ही जो अंश पीछे काल में बने अपेक्षया सरल होते गये। उपनिषद् आदि वेदों से बहुत सरल हैं। उपनिषदों से गीता, रामायण, महाभारतादि सरल हैं।

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्वेद 10/90/12।

अतएव जब लोगों को पीछे वर्णव्यवस्था सूझी, तब पुरुष सूक्त गढ़कर ऋग्वेद में रख दिया गया। उसके मंत्र आप पढ़िए तो पाइयेगा कि अन्य बहुत-सारे मंत्रों की अपेक्षा ये काफी सरल हैं। यहां टिप्पणी में पुरुष सूक्त के सोलह मंत्रों में से केवल एक मंत्र मूल रूप में दिया गया है, इसे पढ़कर आप स्वयं समझ जायेंगे कि कितना सरल है। एक हिन्दी का अच्छा ज्ञाता इसका अर्थ सहज कर सकता है। परन्तु ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों का अर्थ करने में बड़े-बड़े व्याकरणाचार्य कांपते हैं। भारतरत्न पांडुरंग वामन काणे जी भी लिखते हैं—"बहुत लोगों का कहना है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद में कालांतर में जोड़ा गया है।"[1]

यद्यपि पुरुष सूक्त के इस मंत्र का अर्थ लाक्षणिक है, तथापि स्वार्थियों द्वारा इसे विभाजक रेखा का आधारस्तंभ बना लिया गया। उक्त मंत्र का अर्थ है कि यह मानव समाज एक विराट पुरुष है। इसमें मुखस्थानीय ब्राह्मण है, हस्तस्थानीय क्षत्रिय, जांघस्थानीय वैश्य तथा पैरस्थानीय शूद्र।

मुख पूरे शरीर के लिए खाता है, इस प्रकार जो परोपकारी हो; मुख से ज्ञान का प्रवचन होता है, मुख के ही आस-पास अधिक ज्ञानेन्द्रियां हैं जैसे जीभ, आंख, कान, नाक; मस्तिष्क ज्ञान-भंडार है ही, इस प्रकार जो ज्ञानभंडार तथा ज्ञान दाता हो; मुख सदैव खुला रहता है, परन्तु ज्यादा चमकता है, इस प्रकार जो तपस्वी रहकर चमकता हो; कहीं भी मुख सहित सिर ही किसी के सामने झुकता है, इस प्रकार जो विनम्र हो, वह ब्राह्मण है। अर्थात जो परोपकारी, ज्ञानी, ज्ञानदाता, तपस्वी, प्रसन्न रहने वाला तथा विनयी है, वह ब्राह्मण है। समाज में ऐसा कोई भी हो, वही ब्राह्मण है।

हमारे शरीर पर कहीं कोई आघात लगे, मक्खी तक बैठती हो, तो वहां उसके निवारण के लिए हाथ पहुंच जाते हैं। 'क्षत' से 'त्राण' पहुंचाना ही तो क्षत्रियत्व है। हम हाथ से दान करते हैं, दूसरे का अभिनंदन करते हैं। यह सब लक्षण जिसमें हो, वह क्षत्रिय है।

जंघे के बल पर ही धन कमाया जाता है। जब कोई जवान लड़का पिता को आंखें दिखाता है, तब पिता कहता है—'देखो बेटा, आंखें मत दिखाओ। अभी हमारे जंघा में बल है। हम कमा कर खा सकते हैं।' अतएव कृषि, गौरक्ष एवं वाणिज्य करके जो धन पैदा करे वह वैश्य है।

पैर पर ही सारा शरीर स्थिर है। इसी प्रकार कर्मकरों तथा श्रमिकों पर सारा समाज स्थिर है। अतएव कर्मकर एवं श्रमिक शूद्र हैं। अब जरा आप नजर घुमाइए; तो ये सारे काम आज के सभी मनुष्यों में पाइयेगा, तब वर्ण जातिगत

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 110।

कहां रहा ! ब्राह्मण कहलाने वालों के लड़के फौज तथा पुलिस में भर्ती होने से क्षत्रिय हैं। खेती-पशुपालन तथा व्यापार करने से वैश्य हैं और मजदूरी, नौकरी आदि करने से शूद्र हैं। और शूद्र कहे जाने वालों के लड़के शिक्षादाता, ज्ञानी, परोपकारी, विनयी, तपस्वी होने से ब्राह्मण हैं। वस्तुतः आजकल वर्णव्यवस्था बिलकुल समाप्त है। सब मनुष्यों को सब दिशा में छूट है। सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपनी उन्नति करें। सब आपस में बिना भेदभाव के हिलमिल कर रहें। यही मानवता है। यही आज की शुभधारा है। न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र। और यह आज सद्गुरु कबीर के विचारों की सच्ची विजय है।

"जो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया॥" सद्गुरु कबीर पैनी दृष्टि वाले, उदार और निष्पक्ष थे। उन्हें किसी के भी जन्मजात बड़प्पन के ढकोसले पर नफरत थी। वे यहां कहते हैं कि मुसलमान बन्धुओ ! यदि तुम सच्ची मुसलमानिन से पैदा हुए सच्चे मुसलमान हो और तुम्हारा मुसलमान होना ईश्वरीय या कुदरती है, तो तुम्हें माता के पेट में से ही सुन्नत कराकर आना चाहिए। पूरा शरीर मां के गर्भ में बन सकता है तो क्या पेशाब इन्द्रिय की थोड़ी खाल नहीं कट सकती? ईश्वर को यह अक्ल नहीं आयी, तो तुम उसकी अक्ल ठीक कर रहे हो? अतएव यह भी एक ढकोसला है कि पेशाब इन्द्रिय की खाल काटने पर कोई मुसलमान होता है। मुसलमान तो वह है जिसके पास मुसल्लम ईमान हो, जो सत्य के रास्ते पर चले।

काली-पीली आदि अनेक रंगों की गायों के दूध एक समान सफेद होते हैं, वैसे काले, गोरे, पीले रंग के मनुष्य या हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, अंत्यज कहलाने वाले सभी मनुष्यों के शरीर में लगे जड़-तत्त्व मिट्टी, जल, अग्नि, वायु आदि एक समान होते हैं तथा सभी जीव एक समान चेतन होते हैं। सबको भूख-प्यास, सुख-दुख एक समान लगते हैं। सबको मानसिक विकारों से अशांति होती है तथा सबको मनोविकारों को छोड़ देने पर शांति मिलती है। इस प्रकार तथ्य में अन्तर न होने से मानव मात्र मूलरूप में एक समान हैं। वे अपने ज्ञान तथा आचरण के अनुसार ऊंच-नीच तथा अच्छे-बुरे बनते हैं।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं—"छाडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंगपानी॥" हे मनुष्य ! अपने आप को श्रेष्ठ तथा दूसरों को नीच सिद्ध करने के हथकंडे, कपट, चालाकी तथा धूर्तता छोड़ दो। मनुष्य का कोई वर्ग किसी तथाकथित ईश्वर के मूड़ से पैदा हुआ है, कोई पैर आदि से, यह मानना और इसका प्रचार करना एक कपट तथा धूर्तता है। किसी का कोई अंग कटा

लेने से तथा अमुक ग्रन्थ-पंथ मान लेने से वह स्वर्ग के पथ में है, आस्तिक है, शेष नास्तिक तथा नरक के पथ में हैं यह सब कपट तथा वंचना है। कबीर साहेब कहते हैं कि कपट-चालाकी छोड़कर सारंगपाणि का भजन करो।

यह सारंगपाणि कौन हो सकता है? सारंगपाणि का अर्थ है जो अपने हाथों में धनुष धारण करता हो। इसका रूढ़ अर्थ है विष्णु तथा दशरथ सुवन-श्रीराम। कबीर साहेब इन दोनों को इष्ट नहीं मानते। वे कहते हैं "माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।"[1] तथा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।"[2] इन दोनों महापुरुषों के विषय में इस आशय के बीजक में बहुत उदाहरण हैं। फिर कबीर साहेब विधिरूप में इन्हें भजने के लिए कैसे कह सकते हैं! वे हिन्दू और मुसलमान, दोनों को उपदेश करते हैं, तो मुसलमानों को यह कैसे कह सकते हैं कि तुम विष्णु तथा श्रीराम का भजन करो? वस्तुतः कबीर साहेब के संस्कार हिन्दू समाज से मिले थे। इसलिए वे हरि, राम, सारंगपाणि आदि शब्दों का उल्लेख अपनी वाणी में जगह-जगह करते हैं। यहां सारंगपाणि का कोई गहरा अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है।

यहां कबीर साहेब हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मणादि कहलाने वाले लोगों से कहना चाहते हैं कि तुम लोग ऊंच-नीच की भावना छोड़ो और अपने-अपने ढंग से जो कुछ तुम उपासना करते हो, उन्हें करते हुए सत्य का चुनाव करो जो सबमें सम है। "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।"[3] विवेकवान परीक्षा करके चुनाव करते हैं। इस पूरी रमैनी का अभिप्राय मानवीय एकता है, किसी देवता की उपासना नहीं। इसके तो वे विरोधी हैं। वे तो सन्त, गुरु तथा अंततः आत्मस्वरूप की उपासना मानते हैं। अतएव यह निज स्वरूप चेतन ही सारंगपाणि एवं विष्णु है। सारा अहंकार छोड़कर निज स्वरूप चेतन में रमण करो।

रमैनी-63

नाना रूप वर्ण एक कीन्हा। चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा॥ 1॥
नष्ट गये कर्ता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा॥ 2॥
नष्ट गये जिन्ह बेद बखाना। बेद पढ़े पर भेद न जाना॥ 3॥
बिमलख करे नैन नहिं सूझा। भया अयान तब किछउ न बूझा॥ 4॥
साखी—नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।
घट घट है अविनाशी, सुनहु तकी तुम शेख॥ 63॥

---

1. बीजक, साखी 149।
2. बीजक, शब्द 109।
3. कालिदास, मालविकाग्नि 1/2।

शब्दार्थ—नाना रूप=नाना जातियां। वर्ण=चतुर्वर्ण। एक=मनुष्य। वै=मनुष्य। कर्ता=मनुष्य। औरहि=मानव से भिन्न। बखाना=व्याख्यान, भाष्य टीकादि। बिमलख=विमलाक्ष, दिव्यदृष्टि। अयान=अज्ञानी। अविनाशी=अमर चेतन जीव। शेख=शेख तकी, एक प्रसिद्ध सूफी सन्त जो सिकंदर लोदी के गुरु थे और प्रयाग के पास झूंसी में रहते थे।

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण एवं मुराव, तेली, धोबी, नाई, चमार आदि नाना जातियों का निर्धारण केवल मनुष्यों ने ही किया है। परन्तु पीछे के लोगों ने इस तरह इसकी परख नहीं की॥ 1॥ इन वर्णों एवं जातियों का कल्पनाकर्ता निर्धारक मनुष्य ही है ऐसी पहचान जिसे नहीं हुई वे नष्ट हो गये। उन्होंने अपने आप को अधिक नीचे गिरा लिया जिन्होंने वर्णों और जातियों का कर्ता मानव के अतिरिक्त किसी अन्य अतिमानवीय शक्ति ईश्वरादि मान लिया और कहा कि यह वर्ण-जाति का भेदभाव प्रभुप्रदत्त है॥ 2॥ वे भी नष्टबुद्धि के हो गये जिन्होंने वेदमंत्रों की कल्पित वर्ण-जाति सम्बन्धी भेदभावपरक व्याख्याएं कीं। वे वेद तो पढ़ते हैं, परन्तु उनका रहस्य नहीं समझते॥ 3॥ उन्हें यह अहंकार है कि यह ऊंच-नीच का भेदभाव दिव्यदृष्टि सम्पन्न ईश्वर या ऋषियों का प्रावधान है और उसके विषय में हमारी भी विमल दृष्टि है; परन्तु आदमी जब स्वार्थ तथा अहंकार में अन्धा हो जाता है, तब उसे कुछ नहीं सूझता। ऐसे लोग कल्पित अतिमानवीय दिव्यदृष्टि का आधार लेकर जनमानस को ठगते हैं॥ 4॥

ऐसे बुद्धि के सागर, किन्तु मन के छली लोग जनता को नाना प्रकार के गलत आदेश देकर उन्हें नचाते हैं और स्वयं नट-वेष की तरह स्वांग बनाकर नाचते हैं। हे शेख तकी! तुम ध्यान दो, सभी के दिल में अविनाशी चेतन निवास करता है॥ 63॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पीछे की रमैनी में मानवीय एकता के आधार पर विस्तृत चर्चा की है और बताया है कि वर्णादि भेदभावपरक बातें कल्पित हैं। उसी क्रम में यह रमैनी भी है। सद्गुरु इस रमैनी में कहते हैं कि जाति और वर्ण सब मनुष्य के बनाये हैं। हम इस पर कालक्रमानुगत ऐतिहासिक अध्ययन कर लें।

कहा जाता है कि भारत में आदिम जातियां निवास करती थीं। पूरा भारत प्रायः जंगलों से ढका था। आर्य लोग कैस्पियन[1] सागर के आस-पास रहते थे।

---

1. कैस्पियन सागर एशिया-योरप के मध्य, आज के सोवियत रूस के दक्षिणी छोर पर पड़ता है। वहीं से आज का ईराक देश शुरू होता है जो पहले बैबिलोन कहा जाता था। बैबिलोन से पूर्व ईरान है तथा ईरान से पूर्व अफगानिस्तान तथा भारत है।

वे वहां से किसी कारणवश दक्षिण बैबिलोन में बढ़ आये जिसे आजकल ईराक कहते हैं। यहां की संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव आर्यों पर पड़ा और वेद-मंत्रों के कितने ही ऐसे शब्द हैं जो बैबिलोन भाषा के हैं, इसीलिए सायण जैसे समर्थ भाष्यकार उनका अर्थ नहीं समझ पाये।[1] आर्य लोग बैबिलोन से फारस आये जो आजकल ईरान कहलाता है। यहां आर्य लोग बस गये। उनके यहां बसने से ही आर्यन से ईरान नाम पड़ा। इनमें एक महान तेजस्वी पुरुष जरथ्रुस्त्र हुए जिनसे पारसी मत चला जो अन्य आर्यों की तरह अग्निपूजक थे। शेष आर्य ईरान से बढ़कर सिन्ध की तरफ आ गये और पंचनद (पंजाब) में बस गये। वेदों के अधिक मन्त्र यहीं बने। यह मत ज्यादा मान्य है।

कुछ लोगों का कहना है कि आर्य लोग हिमालय की चोटियों पर रहते थे। उसकी चोटियां पहले नीची थीं और उन पर असहनीय ठंडक नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे चोटियां ऊंची होती गयीं और ठंडक बढ़ते जाने से उन पर रहना कठिन हो गया। अतएव वे पर्वतों से उतरकर पंचनद (पंजाब) में आ गये।

अब हम मुख्य प्रसंग पर आवें। आर्यों में पहले न कोई वर्णव्यवस्था थी और न जाति-भेद था। वे अपना सब काम अपने हाथों से करते थे। उपासना की दृष्टि से वे प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानते थे तथा उनमें श्रेष्ठ देवता अग्नि को मानकर उसमें हवन करते थे। अग्नि थोड़ी जलाने से बढ़ जाती है इसलिए उसे ब्रह्म कहा गया। 'वृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़े या बड़ा हो, वह ब्रह्म। और उसके चारों ओर बैठकर जो उसकी उपासना करे वह ब्राह्मण। इस प्रकार वे अपने को ब्राह्मण कहने लगे। जब शताब्दियों में उनका समाज बहुत बड़ा हो गया, तब उसकी रक्षा के लिए तथा सरदारी के लिए उन्हीं में से चुनावकर एक दल तैयार किया गया जिन्हें 'राजन्य' कहने लगे। जब और समाज बढ़ा, तब पशुपालन के साथ-साथ खेती का विकास हुआ और वस्तुओं का आदान-प्रदान बढ़ने से क्रय-विक्रय बढ़ा। इसलिए उन्हीं में से एक दल तैयार किया गया जिन्हें 'विश' कहा गया। ईराक-ईरान तथा भारत के बहुत-सारे निवासियों को, जो मय, दानव, दैत्य, असुर, पणिय, वानर, रीछ, नाग आदि कहलाते थे आर्यों ने जीतकर अपने साम्राज्य कायम किया। ईराक-ईरान से लेकर भारत तक

---

1. "अब इस बात में संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है कि प्राचीन वैदिक संस्कृति पर बैबिलोनियन संस्कृति का भारी प्रभाव है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाएं बैबिलोनियन भाषा से मिलती हैं। जिन ऋचाओं का अर्थ सायण आदि भाष्यकार नहीं लगा सके उन पर बैबिलोनियन ऋचाओं से काफी प्रकाश पड़ता है। यथा "सृण्येव जर्फरीतू" (ऋग्वेद 10/106/6)। (आचार्य चतुरसेन कृत वयं रक्षामः, भाष्यम्, पृष्ठ 241)

पहले असुरों के अधिकार में था। इसका विवरण रामायण, महाभारत तथा पुराणों में मिलता है।[1]

इस प्रकार जब आर्यों का दल बढ़ गया, तब उन्होंने पेशे के ख्याल से ब्राह्मण, राजन्य तथा विश तीन खेमों में समाज को विभक्त किया। हवन आदि धार्मिक कृत्य करने-कराने वाले ब्राह्मण; शासक राजन्य तथा कृषि, पशुपालन व्यापारादि करने वाले विश कहलाये। राजन्य तथा विश ही आगे चलकर क्षत्रिय तथा वैश्य कहलाने लगे। इन तीनों वर्णों में पहले आपस में केवल काम का बटवारा था। परन्तु उनके आपसी व्यवहार में तथा रोटी-बेटी में कोई भेदभाव नहीं था। आगे चलकर मजदूर एवं श्रमिक दल को शूद्र नाम देकर घोषित किया गया। परन्तु उन्हें अछूत नहीं माना जाता था। वे बड़े-बड़े भोजों में भंडारी रहते थे तथा भोजन पकाते थे और उनकी लड़कियां भी ले ली जाती थीं।

पीछे काम बढ़ते गये और बाल बनाने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले, धातु तथा मिट्टी के बरतन बनाने वाले, लकड़ी का काम करने वाले इत्यादि लोगों की संतानों में उन कामों में स्वाभाविक गति एवं रुचि बढ़ती गयी और उन सबकी अलग-अलग जातियां बनती गयीं। दिन बढ़ते गये और जातियां बनती गयीं और वे एक दूसरे से अपने आप को अलग मानती गयीं। दुर्भाग्य यह कि अन्न पैदा करने वाले, कपड़े बुनने वाले, बाल बनाने वाले, तेल पेरने वाले आदि कर्मकर श्रमिक जो समाज के हाथ-पैर हैं, माई-बाप हैं, उन्हें शूद्र कहकर उनका तिरस्कार किया गया।

'जाति' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है पैदा होना। मानव मात्र की पैदाइश एक है, इसलिए मानव मात्र की जाति एक है। बैल-घोड़ी से, बकरा-शूकरी आदि से बच्चे नहीं पैदा होते, इसलिए इनकी जातियां अलग-अलग हैं, परन्तु मानव मात्र के नर तथा नारी से बच्चे पैदा होते हैं। इसलिए पूरा मानव एक जाति है। वर्ण विभाजन भी एक दिन काम का बटवारा लेकर हुआ था। तथा पीछे विभिन्न कल्पित जातियां भी विभिन्न काम करने से बन गयीं। इन सबका विभाग तथा निर्धारण करने वाले मनुष्य ही हैं।

---

1. तस्मिन् प्रशासति तदा सर्वकामदुघा मही।
रसवन्ति प्रसूनानि मूलानि च फलानि च॥
अकृष्टपच्या पृथिवी सुसम्पन्ना महात्मनः।
स राज्यं तादृशं भुङ्क्ते स्फीतमद्भुतदर्शनम्॥ (वाल्मीकीय रामायण 7/84/7-8)
अर्थात—वृत्र असुर के राज्य में पृथ्वी सारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली थी। उस समय फूल, फल, मूलादि सब रस से भरे रहते थे। महात्मा वृत्रासुर के शासन काल में पृथ्वी बिना जोते-बोये अन्न पैदा करती थी और सम्पत्ति से पूर्ण रहती थी। इस प्रकार असुरराज वृत्र महान ऐश्वर्यशाली एवं आश्चर्यजनक राज्य का उपभोग करते थे।

इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं "नाना रूप वर्ण एक कीन्हा। चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा॥" एक मनुष्य ने ही नाना कल्पित जातियों के रूप खड़ा किये तथा चार वर्णों का विभाजन किया। जिस समय वर्णव्यवस्था की गयी होगी, हो सकता है उस समय वह स्वस्थ, कल्याणप्रद तथा जनहितकारी रही हो। परन्तु आगे चलकर तो उसमें चालाकी, धूर्तता, दुर्बल वर्ग का शोषण तथा फूट डालकर स्वार्थ सिद्ध करने की भावना ही फैलती गयी। पुरोहित ब्राह्मणों ने शास्त्र नाम पर ऐसा जाल रचा, जिसमें पदे-पदे यही बताया गया कि यह सब ऊंच-नीच का भेदभाव प्रभु का किया हुआ है। इसलिए "चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा।" सामान्य मनुष्य यह नहीं समझ सके कि चार वर्णों का प्रपंच मनुष्य का बनाया है।

"नष्ट गये कर्ता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा॥" इन भेदभावों का कर्ता कौन है? किसने ऊंच-नीच का पाखंड बढ़ाया गया है? उत्तर है चतुर मनुष्यों ने ही। मनुष्य ही इसका कर्ता है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आयी। जनता को तो कुछ और ही बताया गया कि यह सब करने वाला ईश्वर है, प्रभु है।

मनुष्य की आत्मा के अलावा न कोई ईश्वर है, न प्रभु है। ईश्वर दुर्बल-हृदय की सृष्टि है। किन्तु इस ईश्वर का दुरुपयोग समाज के शोषण में खूब किया गया है। पहले एक काल्पनिक निराकार ईश्वर बनाया गया और कुछ लोगों ने किसी-किसी मनुष्य को ईश्वर बनाया और उनके मुख से जो जी चाहा अपने रचित ग्रन्थों में अपनी लेखनी द्वारा कहलवा लिया और कहा कि यह प्रभुवचन है। आचरण-भ्रष्ट भी ब्राह्मण पूज्य है तथा सद्गुणसम्पन्न भी शूद्र पूज्य नहीं है—यह प्रभुवचन है। प्रभु ने स्वयं तपस्वी शूद्र शम्बूक की तथा धर्म-प्रवक्ता सूत की[1] हत्या की थी। इसलिए शूद्र यदि तपस्या एवं धर्मोपदेश करे तो उसकी हत्या कर देना प्रभु-समर्थित है। यह सब मानव के एक बृहत् वर्ग के साथ हमने छलावा किया।

'नष्ट गये जिन बेद बखाना। बेद पढ़े पर भेद न जाना॥" वे नष्ट हो गये जिन्होंने वेदों का यह अर्थ निकाला "एक मनुष्य जाति में कोई मौलिक अन्तर है। कुछ लोग वेद, धर्म, संन्यास तथा मोक्ष के अधिकारी हैं। कुछ लोग नीच कर्म करें तो भी पूजे जायें, और कुछ लोग अच्छे कर्म करें तो भी उनकी हत्या कर दी जाये तथा उन्हें अछूत समझा जाये।" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग वेद

1. शंबूकवध तथा सूतवध दोनों काल्पनिक हैं और शूद्रद्वेषियों द्वारा लिखी गयी मनगढ़ंत कहानियां हैं। इसके लिए पढ़िए लेखक की लिखी पुस्तक 'कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि'।

भले पढ़ते हों, परन्तु वे वेदों का रहस्य नहीं समझते। कबीर देव यह बहुत बड़ी बात कह देते हैं। हम इस पर थोड़ा विचार करें।

धर्मशास्त्रों में लिखा है—जैसे पशुओं में घोड़ा, वैसे मनुष्यों में शूद्र है, अतः वह यज्ञ के योग्य नहीं है (तैत्तिरीय संहिता 7/1/1/6), शूद्र एक चलता-फिरता श्मशान है, उसके पास वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।[1] शूद्र को ज्ञान न दे (मनुस्मृति 4/80)। यदि शूद्र वेद-मंत्र सुन ले तो उसके कान में पिघलाया हुआ रांगा भर दे, वह वेद-मंत्र उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट दे और उसने अपने हृदय में वेद-मंत्र मनन कर लिया है तो उसकी हत्या कर दे (गौतम धर्मसूत्र 1/12/13 तथा शांकर भाष्य में भी)। इसी प्रकार मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र कहे जाने वाले ग्रन्थों में भेदभाव, घृणा तथा क्रूरता के वचन हैं। इन सबके लेखक अपने आप को वेदों के मर्मज्ञ होने का दावा करते हैं। आज के भी पंडित कहते हैं कि ब्राह्मण, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र, स्मृति आदि धर्मग्रन्थों के लेखक वेदों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने वेदों के व्याख्या-स्वरूप ही धर्मशास्त्र लिखे हैं। यह ठीक है कि उनमें बहुत-सारी बातें मानव समाज के लिए बड़े काम की हैं, किन्तु उक्त भेदभाव एवं द्वेषपूर्ण वचन किस वेद के किस मंडल, सूक्त, अध्याय, मंत्र के व्याख्यास्वरूप हैं? इसका उत्तर पंडितों के पास नहीं है। वेदों में शूद्रों को कहां अछूत, वर्जित तथा घृणित कहा गया है? बल्कि वेद-मंत्र यह अवश्य कहता है "समानी प्रपा सहवो अन्न भागः" अर्थात हमारी पौशाला एक हो तथा हम साथ-साथ भोजन करें आदि।

ऋग्वेद काल में जातिवाद को लेकर क्रूरता नहीं थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 116 से 126 तक—11 सूक्त, जिनमें 153 मंत्र हैं कक्षीवान की रचना है जो शूद्र हैं। इन्हीं की पुत्री घोषा ऋग्वेद (10/39 तथा 40) की ऋषिका हैं, जो शूद्रा ही हैं। ऋग्वेद (10/169) के ऋषि शबर शूद्र ही हैं।[2] विचारना यह है कि जब शूद्र के बच्चे वेद के मंत्र बना सकते थे तब उनके प्रति क्रूरता की बात करना और कहना कि यह वेद का मर्मज्ञ होना है कहां तक संगत है। अतएव सद्गुरु का यह वचन बड़ा ही दूरदृष्टि वाला है कि वेदों की ऐसी व्याख्या करना जिसमें मनुष्यों में ऊंच-नीच की भेदभावना तथा शूद्र कहे जाने वालों को पशु से भी नीच देखने की भावना हो, वेदों को न समझना है और अपना तथा समाज का पतन करना है। वस्तुतः वेद-भक्तों ने ही वेदों पर कालिख पोती है। संस्कृत के कवियों से लेकर हिन्दी आदि के कवियों तक ने जो जातिवादी

---

1. वेदांत 1/3/38 पर शांकरभाष्य से उद्धृत।
2. देखिए इन सूक्तों का सायण भाष्य तथा स्वामी भगवदाचार्य रचित सामवेद और यजुर्वेद की प्रस्तावना, पृष्ठ 35।

संस्कार के थे, वेदों की जा-बेजा दोहाई दे देकर शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को नीचा दिखाने की चेष्टा की है। सद्गुरु कहते हैं कि वेदों की ऐसी व्याख्या करने वाले नष्टबुद्धि हैं। वे वेद भले पढ़ते हों, परन्तु उनका रहस्य नहीं जानते।

महाभारत में जाति शब्द मानवमात्र के अर्थ में प्रयुक्त है। नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर कहते हैं—"हे महामति सर्प ! यहां जाति शब्द का प्रयोग पूरे मनुष्य के लिए किया गया है। सभी वर्णों एवं जातियों का इतना मिश्रण हो गया है कि इसमें एक दूसरे से अलग कर उसकी परख करना दुष्कर कार्य है। सदा से सभी वर्णों एवं जातियों के पुरुष सभी वर्णों एवं जातियों की स्त्रियों से बच्चे पैदा करते आये हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने शील (सदाचार) को सर्वोच्च माना है।"[1]

"बिमलख करे नैन नहिं सूझा।" अर्थात लोग तो अहंकार करते हैं दिव्यदृष्टि का; परन्तु उनको स्थूल नेत्रों से भी नहीं सूझता। अहंकार है त्रिकालदर्शी होने का, परन्तु उन्हें वर्तमान भी नहीं दिखाई पड़ता। ऐसे लोगों पर कबीर साहेब की बहुत बड़ी फटकार है जो अभिमान तो रखते हैं सर्वज्ञता का और मानवीय व्यवहार भी नहीं समझ पाते। सच है, जब आदमी स्वार्थ में मूढ़ हो जाता है, तब उसे कुछ नहीं सूझता—"भया अयान तब किछउ न बूझा।" मनुष्य के हृदय में सच्चे विचार तभी उदित हो सकते हैं जब वह अपने देहस्वार्थ को जीत ले तथा सब तरफ से निष्पक्ष हो जाये। कबीर साहेब के सच्चे विचार का मूल यही है। वे न कहीं आसक्त थे और न कहीं किसी के पक्ष में चिपके थे।

"नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।" अर्थात जो अतिमानवीय कल्पना करते हैं और कहते हैं कि मानव से अलग आकाश में बैठा कोई देव है, वे उसी के आदेश का छलावा कर मनुष्यों में ऊंच-नीच की भेदभावना पैदा करते हैं। अपने आप को ऊंच तथा दूसरों को नीच कहते हैं और अपने को दीनदार तथा दूसरों को काफिर कहते हैं। ऐसे लोग संसार के लोगों को नाना कल्पित आदेश देकर उन्हें अपनी उंगुली पर नचाते हैं। ऐसे लोग जनमानस का बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण करते हैं। और वे स्वयं भी नाना स्वांग बनाकर नाचते हैं। वे अपने आप की झूठी वरीयता बनाये रखने के लिए नट की तरह पाखंडपूर्ण वेष बनाते हैं। वे दूसरों को नीच तथा अपने आप को ऊंच सिद्ध करने के लिए नाना पाखंड तथा छलावा करते हैं।

---

1. जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥ (महाभारत, वनपर्व 180/31-33)

सद्गुरु कहते हैं—"घट घट है अविनाशी, सुनहु तकी तुम शेख।" हे शेख तकी ! सुनो, सबके दिल में एक-सा ही अविनाशी चेतन देव निवास करता है। यहां मूल रूप से कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

कबीर साहेब के कहने की यह विधा है कि जब वे मानवसमाज पर प्रकाश डालते हैं, तब समसामयिक प्रचलित हिन्दू और मुसलमान—दोनों पक्षों को लेते हैं। हिन्दू सवर्णनामधारी अपने जाति-वर्ण के मिथ्या अभिमान में अहं-हीनत्व की भावना फैला रहे थे तथा मुल्ला-मौलवी अपने तथाकथित इलहामी एवं खुदाई कुरान और इसलाम का अहंकार लेकर गैर-मुसलमानों को काफिर, बेदीन, नरकगामी आदि के रूप में देख रहे थे। निष्पक्ष कबीर को दोनों के पाखंड अखरते थे। वे कहते हैं कि अविनाशी परमात्मा से मुलाकात करने के लिए किसी ऐसे बिचौलिए की आवश्यकता नहीं है जो अपने मत, किताब तथा महापुरुष को अतिमानवीय कल्पनाओं से जोड़कर स्वयं के मत को ईश्वर का ठेकेदार कहता है और दूसरों के मतों को नास्तिकों या काफिरों का रास्ता बताता है। सद्गुरु कहते हैं कि वह अविनाशी परमात्मा आत्मा के रूप में घट-घट में बसता है। वह तो स्वसंवेद्य है। उसका निर्देश करने के लिए केवल पहुंचे हुए सद्गुरु की आवश्यकता है और सद्गुरु केवल विवेकसम्पन्न मानव होता है। न उसे झूठे जाति-वर्ण की आवश्यकता रहती है और न अहंकारपूर्ण ईश्वरीय मत की। वह सद्गुरु तो विवेक-वैराग्य से पूर्ण होता है। वह केवल दीपक से दीपक जलाता है। सबके अन्दर तो अविनाशी निवास करता है। उसे किसी ईश्वरीय या दीनदार के मजहब से पाने का प्रश्न क्या है? जो नित्य प्राप्त है, उसको कोई ईश्वर का ठेकेदार प्राप्त कराने का ढकोसला करे तो वह समाज को केवल गुमराह कर रहा है !

हम अपने अन्दर निवास करने वाले अविनाशी स्वरूप को भूले हैं। अन्दर कहना भी केवल देहोपाधि से है। वह अविनाशी चेतन देह में निवास करता है। वही तो हम हैं। हम अपने स्वरूप को केवल भूले हुए हैं। सद्गुरु जो अपने स्वरूप में जगा हुआ है, हमें भी जगा देता है कि अरे, तू जिस परमात्मा को खोज रहा है वह तू ही है। और इसका ध्यान आते ही हम भी जग जाते हैं। बस, काम हो जाता है।

अब विचारिये ! कौन-सा ईश्वर आकाश में या किसी अन्य लोक में या परोक्ष है जिसने कोई किताब भेजी हो, अपने अवतार, पुत्र या पैगंबर भेजे हों और उसी के द्वारा हमें उसके तक पहुंचना हो। ये सारी बातें मनुष्य के साथ छल करना है। अविनाशी तो घट-घट में है, तो इसमें सद्गुरु के अलावा किस मध्यस्थ की आवश्यकता है ! क्या मनुष्य की आत्मा से अलग कोई परमात्मा होता है जिससे मिलाने के लिए महजबी लोग चौधराना करते हैं !

सद्गुरु कहते हैं कि इस जीव, इस आत्मा, इस अपने अविनाशी चेतन स्वरूप के अलावा कहीं कोई ईश्वर, परमात्मा, गॉड, खुदा आदि नहीं है जिसे पाना है।

यहां सद्गुरु ने शेख तकी को सम्बोधित कर यह साखी कही है। हो सकता है इस साखी की रचना के समय शेख तकी और कबीर साहेब आमने-सामने विद्यमान रहे हों। कबीर साहेब ने जितने पद कहे हैं वे सब जीवंत हैं। अर्थात उन्होंने कमरे के भीतर या पेड़ के नीचे बैठकर नहीं लिखा है, किन्तु जनता में कहा है। उसे शिष्यों ने लिख लिया। सद्गुरु साखी प्रकरण में स्वयं कहते हैं— दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।"[1] अर्थात कबीर साहेब कहते हैं कि मैं प्रतिदिन की वर्तमान स्थिति को देखकर उसके समाधान के लिए अपने पद कहता हूं।

एकांत में लिखा लेख उतना प्राणवान नहीं होता जितना सभा या जनता में बोला गया व्याख्यान होता है। एकांत में तो हम वह लिखते हैं जो उस समय हमारे मन में होता है; परन्तु जनमानस में हम वह बोलते हैं जो समसामयिक जनता की आवश्यकता होती है। इसीलिए सद्गुरु ने लिखने पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने कहने पर विश्वास किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा "सत्य कहौं लिखि कागद कोरे", परन्तु कबीर साहेब ने बारम्बार दोहराया "कहहिं कबीर सुनो भाई साधो"—"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा।" कबीर साहेब सन्तों से, अवधूतों से, पंडितों से तथा आम जनता से बातें करते हैं। वे ईश्वर की गद्दी पर बैठकर कलम नहीं चलाते किन्तु आम जनता में पहुंचकर बात करते हैं। वे किसी देव या ईश्वर को रिझाने के लिए भी उससे बातें नहीं करते, किन्तु आम जनता से करते हैं। कबीर की दृष्टि कल्पित भगवान पर नहीं, प्रत्यक्ष इनसान पर है, परोक्ष परमात्मा पर नहीं, अपरोक्ष आत्मा पर है। वे मनगढ़ंत स्वर्ग पर नहीं, सजीव धरती पर दृष्टि रखते हैं।

काल्पनिक सिद्धियों का व्यामोह छोड़कर आत्म-परख करो

रमैनी-64

काया कंचन जतन कराया। बहुत भाँति के मन पलटाया॥ 1॥
जो सौ बार कहौं समुझाई। तैयो धरो छोरि नहिं जाई॥ 2॥
जन के कहै जन रहि जाई। नौ निद्धी सिद्धी तिन पाई॥ 3॥

---

1. बीजक, साखी 320।

सदा धर्म जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसतहि रहई॥ 4॥
जो रे कसावै अन्तै जाई। सो बाउर आपुहि बौराई॥ 5॥

साखी—ताते परी काल की फाँसी, करहु न आपन सोच।
जहाँ संत तहाँ संत सिधावैं, मिलि रहै धूतहि धूत॥ 64॥

शब्दार्थ—पलटाया=घुमाया। धरो=पकड़ रखा है। जन=योगी जन। जन=योगमार्गी शिष्य जन। नौ निद्धी=कुबेर की नौ निधियां (खजाने)—पद्म्, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील तथा खर्व। सिद्धी=अष्ट सिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, दर्शित्व तथा वशित्व।[1] अन्तै=अलग, अनात्म। बाउर=मूर्ख। काल=कल्पना, अज्ञान। सोच=चिंता, विचार। धूत=धूर्त, छली।

भावार्थ—कुछ साधक काया को कंचन के समान देदीप्यमान तथा सदा जवान बनाये रखने के लिए काया-कल्प आदि बहुत यत्न करते हैं। मैंने उनको बहुत प्रकार से समझाकर तथा उनके मन को उधर से घुमाकर आत्म-शोधन में लाना चाहा॥ 1॥ परन्तु सौ बार भी समझाकर कहता हूं तो भी उन्होंने उसको इतनी मजबूती से पकड़ रखा है, कि वे उसे छोड़ नहीं सकते॥ 2॥ योगियों के कहने से ये साधकजन यदि उसी भ्रम में पड़े रह जाते हैं, तो इनको क्या मिलेगा? बहुत हुआ तो उनके कथनानुसार ये नौ निद्धियां तथा अष्ट सिद्धियां पायेंगे। अर्थात थोड़ा सांसारिक लाभ इनको मिल जायेगा। परन्तु वह सब नाशवान है॥ 3॥ जिसके हृदय में सदैव सच्चा धर्म निवास करता है वह अपने आप को अन्तरात्मा की कसौटी पर कसता रहता है कि मैं कौन हूं तथा मेरी स्थिति क्या है॥ 4॥ परन्तु जो अन्तरात्मा की कसौटी छोड़कर अपने आप की परख के लिए कोई बाहरी मानदंड मानेगा और अपने उद्धार के लिए दूसरे की आशा करेगा, वह मूर्ख अपने आप पागल हो जायेगा॥ 5॥

लोग अपनी अंतरात्मा की कसौटी छोड़कर बाहर कल्पित देवी-देवताओं एवं ऋद्धि-सिद्धियों में दौड़ते हैं, इसीलिए सबके गले में अज्ञान की फांसी लगी है। हे मनुष्य ! तू अपने कल्याण की चिंता कर न ! जहां संत होते हैं, वहां संत जाते हैं और धूर्त लोग धूर्तों से मिलकर अपनी दलबंदी करते हैं॥ 64॥

व्याख्या—हठयोगियों के बहकावे में आकर कुछ साधक इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि काया-कल्प आदि यत्न करने से जवानी सैकड़ों वर्ष बनी रहेगी और

---

1. अणिमा—छोटा रूप धारण करना। महिमा—संसार में कीर्ति प्राप्त करना। लघिमा—कपास वत हल्का रूप धारण करना। गरिमा—पर्वताकार बड़ा रूप धारण करना। प्राप्ति—जहां चाहे वहां चला जाना। प्राकाम्य—मनोरथ पूर्ण करना। दर्शित्व—गुप्त-प्रकट सब वस्तु देखना। वशित्व—जिसे चाहे उसे अपने वश में कर लेना। ये सारी सिद्धियां काल्पनिक हैं। निद्धियां भी काल्पनिक हैं। निद्धि-सिद्धि का सरल अर्थ सांसारिक लाभ है।

शरीर अमर भी हो सकता है। लोग प्रसिद्ध हठयोगी गोरखनाथ को आज भी जीवित रहने का भ्रम करते हैं और कहते हैं कि वे शरीर से अमर हैं। इन मिथ्या महिमाओं के जाल में पड़कर कुछ लोग नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति, त्राटक आदि करते हैं। वे खान-पान तथा अन्य बातों में बहुत संयम कर शरीर को स्थिर बनाये रखने का भ्रम पाले रहते हैं। इसके साथ यह भी भ्रम जुड़ा रहता है कि जो योगसिद्ध हो जायेगा, वह अष्ट सिद्धि-नौ निद्धि पायेगा।

सद्गुरु कहते हैं कि यह सब मन का मोह है और सर्वथा भ्रमपूर्ण है। संयम-नियम से रहने से शरीर स्वस्थ रहता है और कुछ ज्यादा दिनों तक युवा-जैसा रहता है। परन्तु शरीर तो बदलने वाला है। वह क्षण-क्षण बदल रहा है। चाहे कोई कितना ही योग करे, परन्तु बुढ़ापा तथा मृत्यु का आना निश्चित है। आज भी ऐसे साधु मिलते हैं जो मुश्किल से सत्तर-पचहत्तर वर्ष के होते हैं, परन्तु बताते हैं कि हम योगसाधना से चल रहे हैं, इसलिए एक सौ चालीस वर्ष के हो गये हैं, तो भी कम उम्र के दिखते हैं, परन्तु यह सब व्यामोह है। इसका महत्त्व नहीं है कि आदमी कितने दिन जीता है, परन्तु महत्त्व है कि वह अपने जीवन में क्या करता है।

ऋद्धि-सिद्धि केवल मन के धोखे हैं। सिद्धि का अंधविश्वास ऋग्वैदिक काल से ही रहा है "मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सारे पदार्थों को देख सकते हैं।.....मुनि लोग वायु मार्ग पर घूमने के लिए अश्व स्वरूप हैं.....।"[1] पातंजल योगदर्शन में लिखा गया—"योगी त्रिकालज्ञ हो जाता है, सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा जान लेता है। हाथी के समान बलवान, परदे के भीतर की वस्तुओं का ज्ञाता, समस्त लोकों का ज्ञाता, भूख-प्यास से मुक्त आदि हो जाता है। दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। आकाश में उड़ता है। अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है।"[2] ये सारे अंधविश्वास जनमानस में फैले थे। उन्हें योगदर्शन के लेखक ने अपने सूत्रों में संचित कर दिया। पीछे के लोग शास्त्र-वचन त्रिकालज्ञ ऋषियों के हैं मानकर उन सारे अंधविश्वासों को मन में पालते हैं। इससे दो प्रकार की हानियां होती हैं। पहली हानि यह है कि हम अंधविश्वासी बनते हैं और कारण-कार्य-व्यवस्था के बोध से वंचित रहते हैं। इसलिए कोई भी जालसाज हमें योग का पाखंड दिखाकर ठगता है। दूसरी हानि है कि कुछ लोग सिद्धिलाभ के चक्कर में पड़कर अपने रत्नतुल्य जीवन को हठयोग में व्यतीत करते हैं, जिसमें आध्यात्मिक लाभ कुछ नहीं, बल्कि भटकाव है।

---

1. ऋग्वेद 10/136/4-5।
2. पातंजल योगदर्शन 3/14-49।

सद्गुरु कबीर के युग में हठयोगी खूब थे। लगता है कि कबीर साहेब ने स्वयं भी हठयोग साधा था। परन्तु उसे व्यर्थ जानकर छोड़ दिया था और फिर उसका बीजक में जगह-जगह खंडन किया।

सद्गुरु यहां बताते हैं कि मैं इन लोगों को बारम्बार समझाकर स्वरूपज्ञान पर लाना चाहता हूं; परन्तु ये तो उसे ऐसा मजबूत पकड़ रखे हैं कि छोड़ने का नाम भी नहीं लेते।

"सदा धर्म जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसतहि रहई॥" यह पंक्ति बहुत मार्मिक है। जिसके हृदय में सदैव धर्म बसता है, वह अपने आप को 'राम-कसौटी' में कसता रहता है। 'राम-कसौटी' है अंतरात्मा की कसौटी। इस पंक्ति में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं एक 'धर्म' और दूसरा 'राम-कसौटी'। इन दोनों शब्दों पर हम खुलासा विचार कर लें।

हम पहले 'धर्म' को लें। धर्म है वस्तु का स्वभाव तथा उसके नियम। एक भौतिक क्षेत्र है तथा दूसरा मानसिक क्षेत्र है। मूल द्रव्यों में उनके अपने स्वभाव तथा नियम हैं जो उनमें अंतर्निहित हैं। उन्हीं से जगत की सृष्टि निरंतर चलती है। मूल जड़तत्त्व दूसरे जड़तत्त्वों का उपयुक्त संयोग पाकर अपने अंतर्निहित नियमों से नये-नये कार्य बनाते रहते हैं। जैसे खेत वर्षा, उपयुक्त ऋतु तथा बीज पाकर फसल उगल देता है। लोग कहते हैं "संसार के नियम देखकर उससे भिन्न नियामक की कल्पना करना पड़ता है।" यह ज्ञान से पलायनवाद है और प्रकृति के नियमों पर एक अ-समीक्षात्मक भोले देव को थोपना है, जिससे जब चाहा जाये अपनी इच्छित वस्तु की भीख मांग ली जाये। यदि पानी नहीं बरस रहा है तो उससे पानी की वर्षा मांगी जाये। संतान, धन, निरोग्यता, पदोन्नति न मालूम कितनी चीजों की भीख इनसान मांगता है, उस देव से जिसे उसने स्वयं गढ़ा है। देववाद ने विवेकज्ञान को सुला दिया है। जब मूल द्रव्यों में नियम देख ही रहे हो तब उससे भिन्न नियामक की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? जब देख रहे हो कि बीज, पानी, प्रकाश, वायु, मिट्टी आदि की अपनी सारी योग्यताएं मिलकर पौधे तैयार हो गये और उनमें फूल खिल आये, तब यह कहने की क्या आवश्यकता कि इन फूलों को किसी देव ने खिला दिया है। अतएव प्रकृति अनादि है। उसके स्वभाव तथा नियम उसमें अनादि अंतर्निहित हैं और उनसे जगत का सम्पादन नित्य होता है। भौतिक पदार्थों में ये अंतर्निहित स्वभाव, गुण, नियम आदि उनके धर्म हैं। हमें चाहिए कि हम विवेक तथा परख द्वारा उन्हें पहचानें और उनके मंगलदायी कार्यों में अवरोधक न बनें तथा अनिष्टकारी कार्यों को रोकने का भरसक प्रयत्न करें। आग लगने पर हम उसे पानी, मिट्टी आदि से बुझाने का प्रयत्न करें, देवता की प्रार्थना नहीं कि वह

उसे बुझा देगा। आग का स्वभाव है जलाना चाहे उसमें ददरिया की किताब पड़े या धार्मिक ग्रन्थ, चाहे दुष्ट पड़े या सन्त। व्यापार में गिरावट हो रही है, खेती में सफलता नहीं हो रही है, नौकरी नहीं मिलती या छूट गयी है, स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है, तो हमें इनके कारणों को पहचानना चाहिए और उन्हें भरसक दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इन सबके सुधार के लिए किसी तांत्रिक, पण्डित या महात्मा नामधारी से पूजा कराने की आवश्यकता नहीं है।

तुम्हें जिनसे सुख-दुख मिलते हैं, वे तुम्हारे चारों तरफ फैले जड़-चेतन हैं। उन्हें और उनके स्वभाव को पहचानने की आवश्यकता है और उनके ग्रहण-त्याग तथा सदुपयोग करने की आवश्यकता है। पेट खराब रहता है तो उसके लिए न भभूत झड़ाने की आवश्यकता है और न पूजा करने की, किन्तु अपनी आंत को पहचानने की आवश्यकता है कि वह क्या और कितना ठीक से पचा सकती है। बस, उतना ही खाओ, फिर सुखी रहोगे।

भौतिक क्षेत्र से भी तुम्हारे ज्यादा निकट मानसिक क्षेत्र है। उसके स्वभाव एवं नियमों को पहचानने का प्रयत्न करो। तुम्हें तुम्हारा मन क्यों परेशान करता है? इसे पहचानो। मन का क्या स्वभाव है? उसे परखो। क्रोध, ईर्ष्या, काम, लोभ, मोह आदि विकारों में लिप्त रहोगे तो तुम्हारा मन अशांत रहेगा ही। हजार पूजा, जप, तीर्थ, देवाराधन करो, उनसे तुम्हें क्षणिक संतोष भले मिल जाये, परन्तु मन की उलझन नहीं मिट सकती। वह तो मन को परख कर उससे सारे विकारों को दूर करने से ही होगी। तुमने जिसको तकलीफ दी है, उसी के पास जाकर और पूर्ण विनयावनत होकर उससे क्षमा मांगने से जो तुम्हें शांति मिलेगी, वह शांति तुम्हें तथाकथित तैंतीस कोटि देवता तथा उनके महाराजा ईश्वर से भी क्षमा मांगने से नहीं मिल सकती।

नैतिकता के नियमों का मूल मन में है और भौतिक गतिविधियों के नियमों का मूल प्रकृति में है। यही इनके धर्म हैं। इन दोनों को ठीक से समझकर जो अपने जीवन में ठीक नियमों से चलता है, वही धर्म को समझता है। उसी के हृदय में सच्चे धर्म का निवास है। पूजा करने तथा नमाज पढ़ने वाला धर्मी है, यह बहुत ऊपर-ऊपर की बात है। सच्चा धर्मी वह है जो अपने मन को सदैव देखता है कि उसमें क्या उठ रहा है और उसके विकारी विचारों को दूर करता है।

'धर्म' संस्कृत भाषा का शब्द है और 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, सहारा देना, सम्हाल रखना। ये पदार्थों के नियम तथा स्वभाव ही तो सृष्टि को धारण करते हैं। इन्हीं के सहारे तो विश्व चलता है। अतः यही धर्म है। मानसिक क्षेत्र में नैतिकता ही धर्म है, यही जीवन को धारण करती है।

इसके लिए ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग बार-बार आया है। वेदों में ऋत के तीन अर्थ हैं—यज्ञों के नियम, प्रकृति के नियम तथा नैतिकता के नियम। पीछे वाले दोनों अर्थ सारगर्भित हैं। प्रकृति और मन के स्वभाव को पहचान कर नियमों से चलना यह ऋत के या धर्म के अनुसार चलना है। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं—"ऋत के पथ पर अर्थात प्रकृति के नियमों से चलने वालों के लिए हवाएं मधु ढोती हैं, नदियां मधु बहाती हैं तथा वनस्पतियां मधु बरसाती हैं।"[1] ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—"मन से वस्तु का यथार्थ चिंतन करना ऋत है तथा वाणी से वस्तु का यथार्थ कथन करना सत्य है।"[2]

इस प्रकार जड़-चेतन के भेद एवं उनके गुण-धर्मों को ठीक से जानकर तथा निर्भ्रांत दृष्टि रखकर नैतिकता से चलना धर्म के पथ पर चलना है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसके हृदय में यथार्थ वस्तु-बोध एवं तत्त्वबोध है और जो पवित्र रहनी से चलता है उसके हृदय में मानो धर्म बसता है। ऐसा सत्यज्ञान तथा पवित्र मन वाला व्यक्ति अपने आप को 'राम-कसौटी' में कसता है। राम अपना चेतन स्वरूप है, अपनी अंतरात्मा है। पवित्र मन वाला व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज को साफ सुनता है। यहां कोई यह न समझ ले कि अंतरात्मा से कोई शब्द उठता है। तात्पर्य है कि जीव ज्ञानस्वरूप है। जब वह मल, विक्षेप तथा आवरणों से मुक्त हो जाता है, तब उसका ज्ञान उद्घाटित हो जाता है। ऐसा शुद्ध जीव अपने आप को क्षण-क्षण समझता रहता है कि मैं कौन हूं, क्या कर रहा हूं। उसके मन के सामने थोड़ी भी भ्रांति आये, उसे देख लेता है। उसका निर्मल ज्ञान उसके लिए क्षण-क्षण कसौटी का काम करता है। धर्माचरण द्वारा हृदय निर्मल होने से भीतर सब कुछ साफ समझ में आता है। पवित्र व्यक्ति की चेतना उसे क्षण-क्षण रास्ता दिखाती है। यही अंतरात्मा की आवाज है और यही 'राम-कसौटी'[3] है।

"जो रे कसावै अन्तै जाई। सो बाउर आपुहि बौराई॥" अर्थात जो व्यक्ति अपनी कसौटी तथा अपने आप की निरख-परख अपने अंतर्ज्ञान से न कर किसी काल्पनिक देव से निवेदन करता है—"हे देव ! तू ही समझ कि मैं कौन हूं और मेरा उद्धार कैसे होगा ! मैं तो अल्पज्ञ हूं, असमर्थ हूं। तू ही सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ है ! तू ही मेरी देख-रेख कर तथा मेरा उद्धार कर !" सद्गुरु कहते हैं

---

1. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। (ऋग्वेद 1/90/6) (ऋग्वेद के चौथें मंडल के 23वें सूक्त में बारह बार ऋत का प्रयोग हुआ है।)
2. मनसा यथा वस्तुचिन्तनमृतशब्दाभिधेयं वाचा यथावस्तुकथनं सत्यशब्दाभिधेयम्।
(ऐतरेय ब्राह्मण 1/6)
3. बीजक शब्द 36 में सद्गुरु ने 'राम-ठगौरी' भी कहा है। 'राम-ठगौरी' का अर्थ है राम के नाम पर मिथ्या विश्वास।

कि ऐसा प्रलाप करने वाला भोला है। वह अपने आप को भूलकर स्वयं पागल बन गया है।

किसी काल्पनिक देवता से तो कुछ भी होने-जाने वाला नहीं है। हां, इसके लिए सच्चे सद्गुरु तथा संतों की संगत अवश्य सहयोगी है। इसके बिना काम होना असंभव है। परन्तु सद्गुरु तथा सत्संग का आधार लेकर व्यक्ति को आत्म-शोधन अपने अंतर्ज्ञान से ही करना पड़ेगा। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप चेतन स्व-संवेद्य है। वह पर-संवेद्य कभी नहीं हो सकता। मैं को मैं ही ठीक से जान सकता हूं, इसलिए मेरी कसौटी राम-कसौटी ही है। जो अपने आप को ठीक से नहीं जानता वह कुछ नहीं कर सकता। दैववाद तथा ईश्वरवाद ने आत्मशोधन, राम-कसौटी, स्वसंवेद्य, अंतर्ज्ञान एवं स्वतः परख के ऊपर परदा डाल दिया है। तुम पारख रूप हो। तुम अपने आप को स्वयं परखो। टेनीसन ने क्या खूब कहा है—"आत्मविश्वास, आत्मज्ञान तथा आत्मसंयम—ये तीनों जीवन को परम शक्ति सम्पन्न बना देते है।"[1]

परन्तु जो स्वयं अपने अंतर्ज्ञान तथा परख की अवहेलना कर जगह-जगह देवी-देवताओं की प्रार्थना करता घूमता है, वह केवल भटकता है। सद्गुरु कहते हैं "ताते परी काल की फाँसी, करहु न आपन सोच।" इसलिए कल्पना तथा अज्ञान की फांसी तुम्हारे गले में पड़ी है और तुम्हारी हत्या हो रही है। जिसने अपने स्वरूप को नहीं समझा और अपने आप का उद्धार अपने पुरुषार्थ से नहीं किया और किसी देव के भरोसे बैठा रहा, उसने मानो आत्महत्या कर ली। इसलिए सद्गुरु चेतावनी देते हैं "करहु न आपन सोच"—अपने आप को इस अज्ञान तथा परावलम्बन की फांसी से छुड़ाने के लिए अपनी चिन्ता करो न! जब तुम स्वयं अपने आप में जागोगे, तभी तुम्हारे गले की फांसी कटेगी। बिना तुम्हारे अपने आप में जगे साधु-गुरु भी तुम्हारी सहायता नहीं कर पायेंगे।

"जहाँ संत तहाँ संत सिधावैं" संत के पास संत जाते हैं। सद्गुरु उसे भी संत मानते हैं जो सत्य का जिज्ञासु है और जो अपनी आंखें खोलकर संत के पास पहुंचता है। सत्य के इच्छुक को चाहिए कि वह पारखी संतों के पास जाये और आत्मनिरीक्षण के लिए उनसे परख की कला सीखे। जहां सत्यासत्य परखने-परखाने की संगत है वहीं सत्संग है और निष्पक्ष परख करने-कराने वाले महापुरुष ही संत हैं।

"मिलि रहै धूतहि धूत" धूर्त कहते हैं वंचक को। जो दूसरों को धोखा दे, वह धूर्त है। जो छलावा की बातें करते हैं, वे ऐसी ही संगत में जाते हैं जहां लोग स्वयं को तथा दूसरों को छलते हैं।

---

1. Self Reverence, Self Knowledge, Self Control these three alone lead life to sovereignty.—Tenyson

सद्गुरु इस रमैनी में बताते हैं कि ऐसे योग में मत फंसो जिसका फल काया को टिकाऊ बनाने का व्यामोह है। तुम सत्य-असत्य की परख करो। अपनी आत्मा को पहचानो और उसमें स्थित होओ। इसके लिए पारखी संतों के पास जाकर सत्य पारख ग्रहण करो।

मुख्य मानवीय-गुण विचार है

रमैनी-65

अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न विचारहू॥ 1॥
तूँ जियरा बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संच पावा॥ 2॥
चातृक जलहल आसै पासा। स्वांग धरै भवसागर की आसा॥ 3॥
चातृक जलहल भरै जो पासा। मेघ न बरसे चले उदासा॥ 4॥
राम नाम इहै निजु सारा। औरो झूठ सकल संसारा॥ 5॥
हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा॥ 6॥
किंचित है सपने निधि पाई। हिय न समाय कहाँ धरौं छिपाई॥ 7॥
हिय न समाय छोरि नहीं पारा। झूठा लोभ किछउ न विचारा॥ 8॥
सुमृति कीन्ह आपु नहीं माना। तरुवर तर छर छार हो जाना॥ 9॥
जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥10॥

साखी—अन्ध भया सब डोलै, कोइ न करै विचार।
कहा हमार मानै नहीं, कैसे छुटे भ्रम जार॥ 65॥

शब्दार्थ—अपने गुण=मानवीय गुण, विचारशक्ति। संच=सुख। चातृक=चातक पक्षी। जलहल=जलधर, समुद्र, जलाशय। स्वांग=नाना वेष, नकल। उतंग=उत्तुंग, ऊंचा। यम=वासना। निधि=खजाना। किछउ=थोड़ा भी। सुमृति=मनु आदि स्मृतियां, धर्मशास्त्र। छर=नाश। छार=राख, धूल। वार पार=समाधान। भ्रमजार=भ्रमजाल।

भावार्थ—हे मानव! तुम अपने मानवीय गुण विचार-शक्ति को अवगुण कहते हो। यह तुम्हारा दुर्भाग्य है जो विचार-विवेक की अवहेलना करते हो॥ 1॥ हे जीव! स्वरूप-विचार को छोड़कर तूने बहुत दुख पाया। भला, ऐसी कौन मछली होगी जो जल के बिना सुखी रह सके। इसी प्रकार ऐसा कौन मनुष्य होगा जो आत्म-विचार से अलग होकर सन्तुष्ट हो सके॥ 2॥ चातक पक्षी के आस-पास ही स्वच्छ-शीतल भरा हुआ जलाशय रहता है, परन्तु वह स्वाति-बूंद की आशा में प्यासा ही रह जाता है। यदि स्वाति नक्षत्र नहीं बरसता तो चातक निराश होकर उड़ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य का शांति-सागर एवं आनन्द-सागर उसके हृदय में ही निवास करने वाला उसका अपना चेतन-

स्वरूप ही है, परन्तु यह उधर न ध्यान देकर मन से रचित कल्पित वस्तु की आशा करता है और उसे पाने के लिए नाना स्वांग बनाता है जो मन का ही विलास होने से भवसागर रूप है॥ 3-4॥

राम-नाम से कहा जाता हुआ यह चेतन आत्मदेव ही व्यक्ति का अपना सारस्वरूप है। शेष तो सारा संसार एक दिन छूट जाने से अपने लिए झूठा ही सिद्ध हो जाता है॥ 5॥ व्यक्ति के अपने चेतन-स्वरूप से अलग माना हुआ हरि तो मनःकल्पित होने से एक ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम भावुक लोग उसमें कूदकर जल मरने वाले पतिंगे हो। जिसने स्वरूप-विचार एवं आत्म-विचार छोड़कर मनःकल्पित वस्तु को ही ईश्वर मानकर उसी में विश्राम माना है, उसने मानो अपने आप को वासनाओं के घर में डाल दिया है। वह स्वरूपस्थिति छोड़कर वासनाओं में बह रहा है॥ 6॥

जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में थोड़ा धन पा जाये, तो इतना हर्षित हो कि फूलकर कुप्पा हो जाये और वह सोचे कि मैं इस धन को कहां छिपाकर रखूं॥ 7॥ वैसे मनुष्य संसार की धन-दौलत को पाकर उसमें फूला-फूला घूमता है। परन्तु उन्हें न तो बाहर सुरक्षित रख सकता है और न अपने हृदय को फाड़कर उसमें रख सकता है और न उसका लोभ छोड़ पाता है। मनुष्य थोड़ा भी विचार नहीं करता कि इन स्वप्नवत मिले प्राणी-पदार्थों में लोभ करना मेरा भ्रम है॥ 8॥ मनु आदि स्मृति एवं धर्मशास्त्र तो बने हैं जिनमें मनुष्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य के अच्छे विधान भी हैं, परन्तु जब मनुष्य उन्हें स्वयं नहीं मानता है तो शास्त्र क्या करेंगे। मनुष्य तो ऐसा विवेकहीन हो गया है कि वह पेड़ की शीतल छाया में जाकर भी जलकर राख होना ही अपना कर्तव्य समझता है, अर्थात शास्त्रों का पक्षधर होकर भी पतित बना रहता है॥ 9॥ मनुष्य अपनी गलत बुद्धि के कारण संसार में भटकता है और उसे समाधान नहीं सूझता॥ 10॥

सब विवेकहीन होकर भटकते हैं। कोई विचार नहीं करता। मैं कहता हूं कि आंख मूंदकर मानना छोड़ो, हर बात में विचार कर ग्रहण-त्याग करो, परन्तु मेरी इन बातों को लोग नहीं मानते, तो इनका भ्रमजाल कैसे छूटेगा!॥ 65॥

व्याख्या—कबीर साहेब की वाणी दहकती हुई आग है। उसमें किसी कूड़े-कचड़े का बचा रह जाना संभव ही नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न विचारहू॥" मानव का अपना मौलिक गुण विचार है। 'मननात् मनुष्यः' मनन एवं विचार करने के कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। मनुष्य में यदि विचार न हो, तो वह पशु से भी गया-बीता है। प्रकृति की तरफ से ही मनुष्य का हृदय विचार-शक्ति-सम्पन्न बना है। परन्तु दुर्भाग्य है कि मनुष्य अपनी विचार-शक्ति की अवहेलना करता है।

श्रद्धा का मूल्य कम नहीं है। सत्य बात पर भी यदि हम श्रद्धा नहीं रखते, तो उससे लाभ नहीं उठा पाते। परन्तु विचार को छोड़कर श्रद्धा केवल भावुकता है जिसको कड़ी भाषा में कहें तो मूढ़ता है। लोग श्रद्धा का गलत अर्थ लगाते हैं। वे समझते हैं कि परम्परा की हर बात आंख मूंदकर मान लेना श्रद्धा है, परन्तु यह धारणा श्रद्धा को न समझने का फल है। जैसा कि पीछे बता आये हैं कि श्रद्धा में दो पद हैं 'श्रत्' और 'धा'। 'श्रत' का अर्थ है सत्य तथा 'धा' का अर्थ है धारण करना। तात्पर्य हुआ सत्य को धारण करना। मन की जो शक्ति सत्य को धारण करे वह श्रद्धा है। परन्तु हमने तो अन्धविश्वास को श्रद्धा नाम दिया है।

लोगों को सत्यासत्य, जड़-चेतन एवं कर्तव्याकर्तव्य पर विचार करने की राय दी जाये तो वे उससे कतराते हैं। वे अपने मन की सुविधा के अनुसार किसी परम्परा-पोषित सड़ी-गली बात को मानकर तथा उसकी पूंछ पकड़कर चलना चाहते हैं। परन्तु यह निश्चय समझ लो कि जिसे बौद्धिक, चारित्रिक एवं आत्मिक संतोष प्राप्त करने की अभिलाषा है उसे विचारवान बनना चाहिए और यह अभिलाषा सबको है।

"तूँ जियरा बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संच पावा॥" सद्गुरु करुणा-विगलित होकर कहते हैं कि हे जीव! तू विचार को छोड़कर और जहां-तहां खाई-खंदक में गिरकर बहुत दुख पाया। काम, मोह, लोभ, विषयासक्ति, भूत-प्रेत, देवी-देवता, तन्त्र-मन्त्र, शकुन-अपशकुन, भावी कल्पित इष्ट-अनिष्ट आदि के भ्रमजाल में तू इसीलिए भटकता है, क्योंकि तू विचार का प्रयोग नहीं करता है। यह तो तेरा अविचार ही है कि तू अपने स्वरूप को नहीं समझता है। इसलिए दर-दर भटकता है। यदि मछली को पानी से अलग कर दिया जाये तो उसको विश्रांति कैसे मिलेगी! यदि जीव आत्म-विचार से अलग रहता है, तो वह सच्चे अर्थों में सुखी कैसे हो सकता है! जो अपनी आत्मा को नहीं समझता और अपनी आत्मा में सन्तुष्ट नहीं होता, वह बाहर से सम्पन्न होकर भी सुखी नहीं हो सकता।

चारों तरफ स्वच्छ, शीतल एवं गहरा जलाशय भरा हो। उसके बीच में भी रहकर चातक स्वाति-बूंद की आशा करता है और स्वाति नक्षत्र के न बरसने से वह उदास होकर उड़ जाता है। यही भूल जीव की है। स्वरूपविचार-आत्मविचार परम शांति का सागर है और वह उसके निकट ही है। निकट कहना भी कथन का एक तरीका मात्र है। यह चेतनदेव स्वयं ही तो सुख-सागर है। परन्तु विचार-विवेक के अभाव में जीव मलिन विषयों के चिंतन एवं क्रिया में लगा रहता है या तो अपने आप से दूर किसी देव या ईश्वर की कल्पना में

डूबा रहता है। चातक को तो स्वाति-बूंद मिल भी सकती है; परन्तु अपनी आत्मा से अलग माना हुआ परमात्मा कभी नहीं मिल सकता; क्योंकि वह केवल मन की कल्पना है। जो व्यक्ति अपने स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति को छोड़कर बाहर से कुछ भी पाने के लिए नाना कर्मकांडों एवं वेष का स्वांग बनाता है, वह मानो भवसागर की ही आशा करता है। स्थूल विषय-भोग भवसागर है; परन्तु मन की कल्पनाएं उससे गहरा भवसागर है।

"राम नाम इहै निजु सारा" इस अर्धाली का अर्थ यह नहीं है कि राम का नाम जपना ही अपना सारतत्त्व है। कबीर साहेब की शैली तथा उनका सिद्धान्त समझ लेने पर यह भ्रम नहीं हो सकता। वे बीजक में जहां कहीं भी 'राम-नाम' या 'राम' कहकर विधेयात्मक ढंग से उसे स्वीकारते हैं, वहां उनका अभिप्राय अन्तरात्मा के लिए ही है। अतएव यहां का अभिप्राय यही है कि राम नाम से अभिहित स्व-स्वरूप चेतन ही अपना सार है। 'निज-सार' अर्थात अपनी वास्तविकता अपना चेतन-स्वरूप है। उसी को राम शब्द से भी जाना जाता है। नाम तो सारे ही काल्पनिक होते हैं, किन्तु लक्ष्य है व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी अन्तरात्मा रूपी राम ही तुम्हारा सार स्वरूप है। वही तुम्हारे साथ है। अपनी आत्मा अपने से कभी अलग नहीं होती है। अलग होने की गुंजाइश ही नहीं है; क्योंकि अपने आप से अपने आप को कोई अलग नहीं कर सकता। परन्तु अपनी आत्मा से अलग की सारी चीजें क्षण-क्षण छूटती जाती हैं और एक दिन सारा संसार छूट जाता है। इसलिए संसार अपनी जगह पर प्रवाह रूप नित्य होते हुए भी हमारे लिए झूठा ही है, क्योंकि यह हमसे एक दिन सर्वथा दूर हो जाता है—"औरों झूठ सकल संसारा।"

"हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा॥" यह पंक्ति बहुत बड़ी क्रान्ति की भाषा में है। यह एकदम चौंका देने वाली पंक्ति है। सद्गुरु कहते हैं कि हरि ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम उसमें कूदकर जल मरने वाले पतिंगे हो। हरि तो आराध्य होता है, फिर वह जलने वाली अग्नि-शिखा कैसे? सद्गुरु कहते हैं यदि तुम अपनी आत्मा से अलग हरि की कल्पना करते हो, तो वह तुम्हारे मन का एक कल्पित नक्शा होता है और तुम जीवन भर के लिए उस नक्शे में उलझ जाते हो। अपने से अलग ईश्वर की कल्पना करने वाला स्वरूप-शोधन नहीं कर सकता। वह तो तथाकथित ईश्वर के सगुण या निर्गुण रूपों की कल्पना कर उन्हीं में पतिंगे वत विमोहित रहता है। पतिंगे को अपने तनोबदन का होश नहीं रहता। वह अग्नि-शिखा में समर्पित होकर जल मरता है। इसी प्रकार अपने से अलग ईश्वर की कल्पना करने वालों को

अपने स्वरूप का भान नहीं रहता। वे अपने मन से बनाये कल्पित रूप पर अपने आप को न्योछावर कर विवेक-शून्य हो जाते हैं।

तुम मन से जो कुछ सोचते हो चाहे जड़ विषय और चाहे ईश्वर—सब वासना ही है। वासनाओं को छोड़ देने से चेतन-स्वरूप मात्र रह जाता है और अपने चेतन-स्वरूप से अलग जहां तक पसारा है सब विषय है और वासना है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम जो मन से खड़ा किये गये ईश्वर में समर्पित होते हो, वह वासना में ही समर्पित होते हो 'यम घर कियहु जीव को संगा।' तुम अपने स्वरूप के भाव को छोड़कर जहां कहीं भी भटकोगे, अपना पतन करोगे।

"किंचित है सपने निधि पाई..." संसार के धन-ऐश्वर्य तुच्छ हैं। वे स्वप्न में मिले हुए के समान हैं। अतः सांसारिक प्राणी-पदार्थों की उपलब्धि में फूलना घोर बालकपन है। संसार के प्राणी-पदार्थों को तुम बटोरकर सुरक्षित नहीं रख सकते हो। तुम्हारा सबसे नजदीकी दिखने वाला शरीर जब क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन सर्वथा छूट जायेगा, तब बाहर से प्राणी-पदार्थों के प्रति लोभ-मोह करना भ्रम नहीं तो क्या है !

"सुमृति कीन्ह आपु नहिं माना।" व्यक्ति और समाज के बरतने के लिए मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर स्मृति, नारद स्मृति आदि बहुत-सारी स्मृतियां बनीं। ये हिन्दू-समाज के कानूनों की डायरियां हैं। इनमें वर्णव्यवस्था के नाम पर मनुष्यों के बीच में उठाई जाने वाली घृणा की दीवारें बहुत हैं; और समाज के काम लायक बहुत सारी चीजें भी हैं; परन्तु आदमी स्वयं जब उन्हें नहीं मानता है, तब वे धर्मशास्त्र क्या करेंगे !

प्रश्न हो सकता है कि स्मृति नाम के तो प्रायः सारे ग्रन्थ मानवताविरोधी हैं। उनमें वर्णव्यवस्था के नाम पर शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों के लिए क्रूरता का प्रदर्शन है। फिर कबीर साहेब ने उनसे समाज को शिक्षा लेने की प्रेरणा क्यों दी? उत्तर में समझना चाहिए कि कबीर साहेब कोई कुंठाग्रस्त आदमी नहीं थे कि किसी की किताबों में कुछ बुराई देखकर उनकी अच्छाइयों को न लेने की राय दें। व्यक्ति पत्थर में से सोना, भूसी में से चावल तथा मिट्टी में से पानी निकाल लेता है, उसी प्रकार विचारवान सभी शास्त्रों में से ग्रहण करने की बातों को ले लेते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि स्मृति आदि धर्मग्रन्थ बनाये गये, परन्तु उनके अनुयायी स्वयं उनके कल्याणकारी कानूनों पर नहीं चलते। बस, इतनी अक्ल रही है कि धर्मशास्त्र रूपी पेड़ की शीतल छाया के नीचे रहते-रहते दुष्कर्मों की आग में जलकर राख हो गये। तात्पर्य है कि अहंकार तो शास्त्र-पक्षधरता का है, परन्तु आचरण का घोर पतन है।

"जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥" मनुष्य नासमझी से संसार में भटकता है। जीवन में भटकाव क्यों है? क्योंकि अच्छी समझ का अभाव है। जो विचार करता है उसी की समझ अच्छी रहती है और अच्छी समझ रहने से मनुष्य विचार करता है। सद्गुरु विचार और समझ पर ज्यादा जोर देते हैं। अच्छे और बुरे मनुष्य में कोई दूसरा अन्तर तो नहीं रहता। सभी के शरीर में वही तत्त्व लगे हैं, सभी के भीतर एक ही समान जान है। यदि अन्तर है तो केवल समझ का।[1] इसी में 'मनुष्य मनुष्य में अन्तर। कोई हीरा कोई कंकर' हो जाते हैं।

विवेकहीन आदमी संसार में भटकता है। भटकने का मतलब है गलत आचरण कर ठोकर खाता है। "ते नहिं सूझे वार न पारा" ऐसे लोगों को 'वारपार' नहीं सूझता। अर्थात उनको अपने जीवन में कोई समाधान का रास्ता नहीं मिलता। जो पारिवारिक, सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक समाधान नहीं कर पाता वह जीवन में हारा हुआ आदमी माना जाता है। त्याग, प्रेम और सेवा के बल पर पारिवारिक तथा सामाजिक समाधान होता है; संतोष से मानसिक समाधान; तत्त्व चिंतन से बौद्धिक समाधान तथा स्वरूप-विवेक से आध्यात्मिक समाधान होता है। और इन सबके मूल में अच्छी समझदारी है। दुर्मति-जीव तो भटकता है।

"अन्ध भया सब डोलै, कोई न करै विचार।" अर्थात सब जीव विषय-वासनाओं तथा जड़ परम्पराओं की मूढ़ता में अन्धे बने भटकते हैं। कोई विचार नहीं करता। इस रमैनी की प्रथम पंक्ति में ही यह प्रेरणा दी गयी है कि मनुष्य को विचारशील होना चाहिए। जब आदमी विचार करता है, तत्त्व-चिंतन करता है, तब सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। अंधविश्वास, अज्ञान, उलझन, अशांति सबके मूल में अविचार है। विचार आने पर ये सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"कहा हमार मानै नहीं, कैसे छुटे भ्रमजार॥" मैं विचार का रास्ता बताता हूं किन्तु मनुष्य केवल मोह तथा परम्परा के अनुसार चलना चाहता है। परम्परा की अच्छी बातें कल्याणकारी हैं। यह बात नहीं कि परम्परा में सब बुरी ही बातें होती हैं। परम्परा से तो मनुष्य के लिए बहुत कल्याणकारी बातें मिलती है; परन्तु उनसे अनर्थ की बातें भी मिल सकती हैं। इसलिए उस पर भी विचार करो कि परम्परा की कौन-सी बात वर्तमान में उपयुक्त है और कौन-सी युगबाह्य है, या परम्परा में कौन-सी बात निरर्थक, अज्ञानपूर्ण तथा त्याज्य है।

---

1. फेर परा नहिं तत्त्व में, नहिं इंद्रिन के माहिं।
फेर परा कछु बूझ में, सो निरुवार्‌यो नाहिं॥ पंचग्रन्थी॥

मैं कौन हूं, मेरा क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है, मेरी स्थिति क्या है? इन बातों पर विचार करना और सारे बन्धनों से अपने आप को छुड़ा लेना, यही जीवन की सफलता है।

जीवन में सन्मार्ग और परोपकार की महत्ता

रमैनी-66

सोई हित बन्धू मोहि भावै। जात कुमारग मारग लावै॥ 1॥
सो सयान मारग रहि जाई। करै खोज कबहूँ न भुलाई॥ 2॥
सो झूठा जो सुत को तजई। गुरु की दया राम ते भजई॥ 3॥
किंचित है एक तेज भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना॥ 4॥
साखी—दिया न खता ना किया पयाना, मंदिर भया उजार।
मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार॥ 66॥

शब्दार्थ—सयान=श्रेष्ठ समझदार। सुत=ज्ञान, ज्ञान जीव से पैदा होने से उसे पुत्र कहा। ते=वे, वही। तेज=माया की रोशनी, चमक-दमक। मन्दिर=शरीर, भवन। उजार=ध्वस्त, सूनसान।

भावार्थ—वही मित्र है, वही बन्धु है और वही मुझे प्रिय लगता है, जो गलत रास्ते पर जाने वालों को अच्छे रास्ते पर लाने का प्रयास करता है॥ 1॥ और वह भी समझदार है जो किसी की अच्छी सलाह मानकर अच्छे मार्ग में चलने का निश्चय करता तथा उसमें चलता है। वह केवल दूसरों के आदेशों का पालन नहीं करता, किन्तु शंका उपस्थित होने पर स्वयं भी सत्य की खोज करता है और विवेक से सत्पथ का निर्धारण कर उस पर चलता है, और अपने सत्पथ को कभी नहीं भूलता॥ 2॥ जो व्यक्ति विवेकज्ञान छोड़ देता है वह अपने को झुठलाता है, परन्तु वही व्यक्ति जब गुरु के कृपास्वरूप सत्योपदेश को समझ जाता है तो स्वरूप-राम को पहचानता और उसका भजन करता है॥ 3॥ आदमी तुच्छ माया की चकाचौंध में भूल जाता है, और धन, पुत्र आदि को देखकर उनका अभिमान करने लगता है॥ 4॥

सांसारिकता में डूबे हुए कितने लोग ऐसे सूम तथा मक्खीचूस होते हैं कि वे न तो दूसरों को देते हैं, न स्वयं उसका उपभोग करते हैं और चार दिनों के बाद संसार से चल बसते हैं, और उनका घर-मकान वीरान या ध्वस्त हो जाता है। मरने वाले तो चले ही जाते हैं, जो बचे रहते हैं वे उनके छोड़े हुए धन का उपभोग करते हैं। अथवा मानो वे ही संसार से मर गये जिन्होंने धन और जीवन का सदुपयोग नहीं किया और जिन्होंने इनका सदुपयोग किया और इन्हें स्व तथा पर के कल्याण में लगाया वे मानो मरने पर भी जीवित ही हैं॥ 66॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर आत्मीय भावना से 'जित देखो तित प्राण हमारो'[1] के अनुसार जीव मात्र को अपने प्राण-प्रिय मानते हैं, परन्तु मनुष्यों में वे सर्वाधिक उसे अच्छा मानते हैं जो स्वयं सत्पथ पर चलता है और दूसरों को सत्पथ पर लाने की कोशिश करता है। मानव-समाज के लिए यह बहुत बड़ा काम है। संसार में डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, क्लर्क, अफसर, राजनेता सबकी आवश्यकता है, परन्तु इन सबकी अपेक्षा ऐसे लोगों की कहीं अधिक आवश्यकता है जो स्वयं पवित्र आचरण एवं विश्वबंधुत्व की भावना से चलते हैं और दूसरों को उस रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हैं। "सोई हित बन्धू मोहि भावै" सद्गुरु उन्हीं को अपना मित्र तथा भाई मानते हैं और सर्वाधिक पसंद करते हैं जो कुपथ पर जाने वालों को सुपथ पर ले आते हैं। वे उन्हीं को साधो तथा सन्तों के नाम से पुकारते हैं और अपनी वाणियों में 'कहहिं कबीर सुनो भाई साधो' या 'सुनो हो संतो' कहकर संबोधित करते हैं।

मानव-कल्याण तथा मानव-उन्नति के लिए जितने भी काम संसार में होते हैं, वे सब प्रशंसनीय हैं। परन्तु उनमें सर्वाधिक प्रशंसनीय काम भटके हुए मनुष्यों को अच्छे रास्ते पर लाना है। आदमी विज्ञान, भौतिक उन्नति, विद्या, अधिकार, सम्मान आदि सारे ऐश्वर्यों से संपन्न हो जाये, परन्तु यदि वह शराब-कबाब, जुआ, व्यभिचार, अन्य नशा-सेवन, चोरी, हत्या, धोखाधड़ी, परपीड़न, अधिक संचय, जमाखोरी, इन्द्रिय-लंपटता आदि में चूर है तो वह अपना तो नरकवास कर ही लिया है दूसरों को भी नरक में ठेलता है। व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश सारी भौतिक सुविधाओं से संपन्न हो जायें, परन्तु यदि उनमें दुराचरणों का बोलबाला हो तो क्या भौतिक सुविधाएं उन्हें सुख दे पायेंगी? कुमार्गी आदमी अपने तथा दूसरों के लिए अभिशाप है चाहे वह कितना ही विद्वान, धनवान तथा उच्चपदस्थ हो। अतएव भौतिक उन्नति की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता नैतिक उन्नति की है। कम धन तथा कम सुविधाओं में रहकर भी सदाचारी व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश सुखी रहते हैं और दुराचारी तथा विपथगामी व्यक्ति, परिवार, समाज और देश दुखी होकर पतित हो जाते हैं।

जो लोग स्वयं अच्छी समझ रखकर तथा सदाचार में चलकर उन्हीं की ओर समाज को लाने का प्रयत्न करते हैं, उनका मानव-समाज के लिए बड़ा भारी कल्याणकारी योगदान है। ऐसे लोगों को कबीर साहेब साधु तथा संत कहते हैं और वे चाहते हैं कि ऐसे लोग संसार में फैलकर उसे सही रास्ता दिखायें और उसका कल्याण करें।

---

1. बीजक, साखी 341।

"सो सयान मारग रहि जाई" वह भी सयान है, श्रेष्ठ एवं समझदार है जो सन्तों एवं सज्जनों की अच्छी राय मानकर सत्पथ पर चलने लगता है। संतजन उपदेश तो बहुतों को करते हैं, परन्तु 'बहरे को टेर' की तरह यदि उसे वह न सुनाई दे तो उपदेशक क्या करेगा ! उपदेशक के उपदेश तभी फलीभूत होते हैं जब लोग उसे सुनें और मानें। उपदेश करना तो सरल है, किन्तु उसे मानना कठिन है। जो सत्योपदेश सुनकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है, वह धन्य है। कबीर साहेब उसको 'सयान' अर्थात श्रेष्ठ कहते हैं। वे तो अन्यत्र उसको गुरु भी कहते हैं—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं इसका अनुभव है कि जब वह सुनता है कि मेरे उपदेश, प्रवचन एवं पुस्तकों को सुन तथा पढ़कर अमुक-अमुक के ज्ञान तथा आचरण में बड़ा सुधार हुआ है, तब बड़ा सन्तोष मिलता है और उसके प्रति आदर का भाव प्रकट होता है।

"करै खोज कबहूं न भुलाई॥" कबीर साहेब कहते हैं कि मैं उसको अधिक श्रेष्ठ मानता हूं जो सत्योपदेश सुनकर अपने ज्ञान तथा आचरण में तो सुधार करता ही है, प्रत्युत वह इससे भी आगे बढ़ता है, नयी खोज भी करता है। किसी गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश के बाद भी यदि शंकाएं शेष रह जायें, तो वह चुप बैठा नहीं रहता है कि एक गुरु ने जितना बता दिया है उतने ही में रहना चाहिए और दूसरों के पास ज्ञान के लिए जायेंगे, तो गुरुद्रोह हो जायेगा। वह तो खोजी होता है। जहां से सार-सत्य मिले, ग्रहण कर लेता है। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु करने का तात्पर्य बहुत जगहों से सार-ग्रहण करना ही है। उन्होंने—"पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हिरन, मछली, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुआंरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गीकीट[1] से शिक्षा ली थी।" उन्होंने पृथ्वी से धैर्य और क्षमा, वायु से स्वच्छंदता, आकाश से निर्लिप्तता, जल से कोमलता, स्निग्धता तथा शीतलता, अग्नि से प्रकाश और शुद्धता, चन्द्रमा से सौम्यता, सूर्य से आत्मज्ञान की अखंडता की शिक्षा ली। उन्होंने एक कपोत-कपोती के आसक्तिजनित दुखों से गृहस्थी की दुखरूपता, अजगर से निश्चिंतता, समुद्र से गंभीरता, पतिंगे से मोहजनित दयनीयता, भौंरा या मधुमक्खी से सारग्राहिता और अधिक संग्रह से

---

1. पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः।
मधुहा हिरणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत॥ (भागवत 11/7/33-34)

विध्वंसता, घास से ढके हुए गड्ढे पर रखी हुई कागज की हथिनी के स्पर्श से गड्ढे में गिरे हुए हाथी से कामजनित मूढ़ता, मधु काढ़ने वाले से संचय की निरर्थकता, संगीत-स्वर के विमोहन में बंधे हिरन एवं विषय गीत से बंधनरूपता, चारे के लोभ से बंसी में फंसी मछली से स्वादासक्ति की दुखरूपता, पर-पुरुषों की आशा करने वाली पिंगला वेश्या से आशा की पीड़ारूपता की शिक्षा ली[1] और उन्होंने कुरर पक्षी, जो मांस का टुकड़ा मुख में लिए रहने के कारण बाज पक्षियों द्वारा मारा जा रहा था, और उसे छोड़ देने पर सुखी हो गया, उसके त्याग से सुख प्राप्ति की शिक्षा ग्रहण की। दत्तात्रेय जी ने बालकों से सरलता की शिक्षा ली और उस नारी से उन्होंने असंगता में निर्विघ्नता की शिक्षा ली जिसके दो चूड़ी तक भी हाथ में रहने से आवाज होती थी। उन्होंने उस बाण बनाने वाले से एकाग्रता की शिक्षा ली जिसके पास से सेना गुजर गयी और वह नहीं जान पाया। उन्होंने सांप से बे-घर के रहने की, मकड़ी से श्रम की तथा भृङ्गीकीट से लक्ष्य की उपलब्धि में सफलता की शिक्षा ली।

उक्त बातें खोज के उदाहरण हैं। खोज से विज्ञान ने कितना कमाल कर दिखाया है! खोज निरंतर नये आयाम खोलती है। खोज से तत्सम्बन्धी पथ सरल होता जाता है। खोजी आदमी पुराने तथा नये सभी असत्यों से घृणा करता है और पुराने तथा नये सभी सत्यों से प्रेम करता है। खोजी जड़ रूढ़ि को नहीं पकड़ता। वह सांप्रदायिक नहीं होता। खोजी सदैव सत्य का समादर करता है। उसका रास्ता आग्रहविहीन, सरल तथा विश्वजनीन होता है। सद्गुरु कहते हैं—"करै खोज कबहूँ न भुलाई" वह सदैव सत्य की खोज करता है, इसलिए वह कभी भूलता नहीं। उसे कोई भटका नहीं सकता। वह अंधपरम्परा की पूंछ पकड़कर बैठता नहीं।

"सो झूठा जो सुत को तजई" यहां 'सुत' का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान जीव का पुत्र है। "घर का सुत[2] जो होय अयाना" यहां सुत का अर्थ है मन तथा "तैं सुत[3] मान हमारी सेवा" यहां 'सुत' का अर्थ है शिष्य। एक शब्द का भिन्न स्थलों पर भिन्न अर्थ हो जाता है। गीता में आत्मा का अर्थ भिन्न-भिन्न जगहों पर मन, इन्द्रिय, देह, जीव—सब है।

---

1. आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
   यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ भागवत 11/8/44॥
   अर्थात—आशा ही महान दुख है तथा नैराश्य होना ही महान सुख है। देखो, पिंगला वेश्या ने जब पुरुष की आशा त्याग दी, तब वह सुख से सो सकी।
2. बीजक, रमैनी 26।
3. बीजक, रमैनी 58।

सद्गुरु कहते हैं कि वह मिथ्यावादी है जो अपने विवेकज्ञान का तिरस्कार करता है। जो अपनी आत्मा में उठते हुए ज्ञान की अवहेलना कर रहा है, वह अपने आप को ही झुठला रहा है। अधिकतम लोग भावुकता-वश अपने विवेकज्ञान एवं अंतर्ज्ञान पर ध्यान नहीं देते। ऐसे लोगों को न जीवन में निर्भ्रांत बोध हो सकता है और न शांति मिल सकती है। भक्ति का महत्त्व है, परन्तु भक्ति के जोश में अंतर्ज्ञान का होश ही खो देना जीवन में गहरी भूल तथा घाटा है। अंतर्ज्ञान एवं विवेकज्ञान के बिना हृदय प्रकाशित नहीं हो सकता है और न जीवन में चिरंतन शांति आ सकती है।

"गुरु की दया राम ते भजई" वही व्यक्ति गुरु की कृपा से राम का भजन करता है। चौपाई की प्रथम अर्धाली में है कि वह झूठा है जो सुत को, अंतर्ज्ञान को तजता है। चौपाई की दूसरी अर्धाली में बताया गया कि वही व्यक्ति जब गुरु की कृपा की उपलब्धि कर लेता है तब वह राम का भजन करता है। "गुरु की दया राम ते भजई" यहां 'ते' का 'वे' या वही सर्वनाम के अर्थ में प्रयोग है। जो व्यक्ति गुरु-ज्ञान से वंचित होने से अपने अंतर्ज्ञान की अवहेलना कर रहा था, 'वही' गुरु-ज्ञान पाकर राम की अर्थात अपने चेतन स्वरूप की पहचान कर लेता है और उसके भजन में लग जाता है। भजन का अर्थ सेवा, स्मरण, स्वत्व तथा विभाजन है। अपने चेतन-राम को वासनाओं से मुक्त कर लेना ही मानो उसकी बहुत बड़ी सेवा है, और यही सर्वोपरि राम-भजन है। स्वरूप का निरंतर स्मरण राम-भजन है। अपने 'स्वत्व' में सब समय प्रतिष्ठित रहना राम-भजन है और अपना 'स्वत्व' अपनी आत्मा है। 'विभाजन' भजन है, अर्थात अपने चेतन स्वरूप को जड़ से अलग कर लेना राम-भजन है।

राम-भजन है जड़ासक्ति से सर्वथा मुक्त होकर निज स्वरूप चेतन में निरन्तर रमण। जो सब समय स्वरूपाकारवृत्ति में लवलीन है, आत्म-रत, आत्म-लीन एवं आत्मस्थ है, वही मानो राम-भजन कर रहा है। यह गुरुकृपा से स्वरूपबोध पाकर ही संभव है।

"किंचित है एक तेज भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना॥" धन, भवन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई आदि देखकर मनुष्य भ्रम-वश उसका अभिमान करने लगता है। माया की तुच्छ और क्षणिक रोशनी में भूल जाता है। यह मनुष्य का घोर प्रमाद है। बादलों की शोभा तथा बिजली की चमक के समान इन मायावी पदार्थों के आते-जाते देरी नहीं लगती। इनका अहंकार करना तो अत्यन्त भोलापन है। 'चार दिनों की चांदनी, फेरि अंधेरी रात' वाली बात है।

"दिया न खता ना किया पयाना, मन्दिर भया उजार।" दानी, उदार और कंजूस—मनुष्य के तीन प्रकार होते हैं। दानी वह है जो समय पड़ने पर स्वयं न

खा कर भी दूसरे को खिलाये, उदार वह है जो स्वयं भी खाये तथा दूसरे को भी खिलाये और कंजूस वह है जो न स्वयं खाये और न दूसरे को खिलाये। सद्गुरु यहां कंजूसों के लिए कह रहे हैं कि वे न स्वयं ठीक से खाते हैं न दूसरों को खिलाते हैं। बस, थोड़े दिनों में संसार से कूच कर जाते हैं और उनका भवन उजाड़ हो जाता है। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में भी कहा—

सातों शब्द जु बाजते, घर घर होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥

यह दशा दूसरों की देखते हैं तो भी जो लोग मौजूद हैं उनकी आंखें नहीं खुलतीं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना तथा अपनों का निर्वाह तो करे ही, दूसरों की सेवा में भी लगाये। जीवन और धन उसी के सफल हैं जो उन्हें यथाशक्ति दूसरों की सेवा में लगाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने दान के विषय में बड़े रोचक वाक्य कहे हैं—"श्रद्धा से दो, यदि श्रद्धा नहीं है तो अश्रद्धा से ही सही, परन्तु दो, धन बढ़ा है इसलिए दो, धन ज्यादा नहीं है तो भी लज्जा से दो, भय से दो और विवेक से दो अथवा कह दिये हो तो दो।"[1] धन का उत्तम उपयोग दान है, मध्यम उपयोग भोग है, अन्यथा उसका अधम उपयोग नाश तो रखा-रखाया है।

"मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार॥" धन संचय करने वाले मर जाते हैं। पीछे वाले, जो कुछ दिनों के लिए बचे रहते हैं, उसे उड़ाते हैं। पूर्वजों के संचित धन पीछे वालों द्वारा प्रायः उड़ाये ही जाते हैं। इसीलिए नीतिज्ञों ने कहा है—"पूत सपूत तो का धन संचय। पूत कुपूत तो का धन संचय॥" अर्थात यदि पुत्र समझदार है तो उसके लिए धन संचय करने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं कमाकर खायेगा और पुत्र बे-समझ है तो उसके लिए भी धन संचय करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह शराब-कबाब आदि दुर्व्यसनों में उसे उड़ा देगा।

"मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार॥" का दूसरा अभिप्राय भी हो सकता है कि जो जीवन और धन को अपने और दूसरे के कल्याण में नहीं लगाते, वे जीते हुए ही मानो मरे हुए हैं और मरने पर तो वे मर ही जाते हैं। पीछे से उनका कोई भी नाम लेने वाला नहीं रहता। लोग उनको दफनाने या जलाने के साथ उनकी याद को भी दफना या जला देते हैं। परन्तु जो लोग अपने जीवन तथा धन को अपने और दूसरों के कल्याण में लगाते हैं, वे जीवित अवस्था में तो जीते ही हैं, शरीर से मरने पर भी मानो जीते हैं। उनकी याद

---

1. श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। (तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली 1, अनुवाक 11)

लोगों के दिल में रहती है तथा उनका नाम लोगों की जुबान पर रहता है। और वे स्वयं लोक-परलोक में सुख के भागी होते हैं।

भक्ति क्या है?

रमैनी-67

देह हलाय भक्ति नहिं होई। स्वांग धरे नर बहु विधि जोई॥ 1॥
धींगी धींगा भलो न माना। जो काहू मोहि हृदया जाना॥ 2॥
मुख कछु और हृदय कछु आना। सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना॥ 3॥
ते दुख पइहैं ई संसारा। जो चेतहु तो होय उबारा॥ 4॥
जो गुरु किंचित निन्दा करई। सूकर श्वान जन्म ते धरई॥ 5॥
साखी—लख चौरासी जीव जन्तु में, भटकि भटकि दुख पाव।
कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥ 67॥

शब्दार्थ—देह हलाय=नाचना-कूदना। धींगी धींगा=मन्मती व्यवहार। मोहिं=गुरु तत्त्व, स्वस्वरूप। नीके भाव=अच्छा लगता है।

भावार्थ—बहुत प्रकार-से वेष बनाकर, यहां तक कि पुरुष होकर भी स्त्री का स्वांग रचकर और अपने आप को तथाकथित भगवान की प्रेयसी बताकर जो उनके द्वारा नाचने-कूदने का तमाशा किया जाता है, यह भक्ति नहीं है॥ 1॥ जो लोग गुरुतत्त्व या आत्मतत्त्व को ठीक से समझते हैं, वे इस मन्मती व्यवहार को अच्छा नहीं मानते॥ 2॥ जिनके मुख में तो चेतनस्वरूप बोधक राम नाम है परन्तु हृदय में भौतिक शरीर एवं दृश्य-भास को ही अपना लक्ष्य मान बैठे हैं, वे स्वप्न में भी गुरुतत्त्व तथा स्व-स्वरूप को नहीं समझ सकते॥ 3॥ वे स्वरूप के ज्ञान तथा स्थिति से दूर पड़े जड़ भास-अध्यास में ही रमने वाले जीव इस संसार में दुख पायेंगे ! हे मानव ! यदि तू सावधान हो जाता है तो तेरा उद्धार हो जायेगा॥ 4॥ जो व्यक्ति जड़-विषय एवं मन के भास-अध्यास में आसक्त होकर गुरु की, गुरुबोध एवं स्वरूपबोध की निंदा करता है, वह स्थूल बुद्धि वाला जीव कर्माध्यासवश शूकर-कूकर आदि नाना योनियों में भटकता रहेगा॥ 5॥

वह चौरासी लाख योनियों में भटक-भटककर दुख पायेगा। सद्गुरु कहते हैं, जो गुरु-भक्ति कर सत्संग द्वारा निजस्वरूप आत्माराम को ठीक से समझकर उसमें स्थित होता है, वह मुझे प्यारा लगता है॥ 67॥

व्याख्या—"देह हलाय भक्ति नहिं होई" पुराकाल से ही भक्ति के नाम पर बड़ा-बड़ा प्रपंच होता रहा है। देश के बड़े-बड़े राज-पुरुषों को पहले भगवान बनाया गया। उसके बाद उनको रसिया बनाया गया। फिर तथाकथित भक्त लोग

उनकी पत्नी बन गये और लल्ला-लल्ली बनकर मन्दिरों एवं संगतों में नाचने लगे। इसी पर कबीर साहेब का व्यंग्य है "कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी"[1] ये लोग पुरुष जन्म को धारणकर भी नारी बन रहे हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह स्वांग धारण करना भक्ति नहीं है। यह तो धींगामस्ती है। भक्ति के नाम पर एक उन्माद है।

भक्ति का तो मुख्य शब्दार्थ है 'अलग करना'[2], और उसका भावार्थ है विवेक ज्ञान एवं परख द्वारा जड़ प्रकृति से अपने चेतन-स्वरूप को पृथक करना। अपने चेतन-स्वरूप को सारे जड़ भासों से अलग कर लेना, अपनी असंगता के बोध में स्थित हो जाना, यही भक्ति है। यह ठीक है कि इस उच्चतम स्थिति तक पहुंचने के लिए विवेक-वैराग्य संपन्न सद्गुरु एवं सन्तों के निर्देश, सत्संग और आध्यात्मिक उच्च आदर्श की आवश्यकता है। पहले तो हमें ज्ञान चाहिए जो विवेक-वैराग्य संपन्न सन्तों एवं सद्गुरु से मिलेगा। दूसरी बात हमारे सामने ऐसा उच्च आदर्श चाहिए जिससे हम प्रभावित होकर स्वरूप-ज्ञान-पथ पर चल सकें। ज्ञान की बातें कहने वाले तो बहुत मिल जाते हैं। परन्तु जो उनके अनुसार चलता हो, वह कल्याणार्थियों के लिए उच्चादर्श है। काम-क्रोध से दूर रहना चाहिए—यह कोई भी कह सकता है, परन्तु जो सचमुच काम-क्रोध से दूर है, वह साधकों के लिए प्रकाशस्तंभ है, उपासनीय है। भक्ति का दूसरा अर्थ यही है कि हम ऐसे महापुरुषों के प्रति अनुराग रखें।

इस प्रकार भक्ति का दूसरा अर्थ मन की 'कोमलता' है। वह उच्चज्ञान एवं आचरण संपन्न सन्तों एवं सद्गुरु के प्रति रहेगी ही, किन्तु वह साधक का स्वभाव बन जाने से सबके लिए रहेगी। भक्ति-भाव वाला व्यक्ति सारी सृष्टि के सामने विनम्रभावना वाला होता है। फिर वह विश्व के सभी पवित्रात्माओं तथा सन्तों के प्रति विनम्र होता है इसका कहना ही क्या !

सबका अभिप्राय यह है कि मन स्वभावतः कोमल हो। सन्त-गुरु के प्रति अनुराग एवं समर्पण-भावना हो। उनसे स्वरूपबोध का निर्देश लेकर विवेक ज्ञान द्वारा अपने चेतनस्वरूप को सारी जड़ प्रकृति से अलग समझकर अपने असंगत्व में निमग्न हो जाना—भक्ति है। अपने आप को सारे दृश्यों से सर्वथा अलग कर लेना ही भक्ति है।

"जो काहू मोहि हृदया जाना" यहां 'मोहि' का अर्थ इस पंक्ति के कहने वाले कबीर साहेब का व्यक्तित्व मात्र न समझ लेना चाहिए। 'मोहि' के यहां दो

---

1. बीजक, शब्द 6।
2. भक्तिः (स्त्री) [भज्+क्तिन्] वियोजन्, पृथक्करण, विभाजन। (वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश)

अर्थ हैं एक 'गुरु' तथा दूसरा व्यक्ति की अपनी 'आत्मा'। गुरु केवल कबीर साहेब नहीं, किन्तु गुरुपद में स्थित जो कोई जहां भी हों, वे सब गुरु हैं। 'मोहि' के दूसरे अर्थ में समझना चाहिए कि प्रथम पुरुष के रूप में 'मैं-मोहि' कहने वाली सबकी अपनी-अपनी आत्मा है, चेतन है। अंततः स्व-स्वरूप को ही गुरुपद कहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जो अपने हृदय में मेरे उपदेश को समझता है, कि गुरु-सन्तों के प्रति उपासना रखते हुए उनके निर्देश लेकर अपने चेतन-स्वरूप को जड़दृश्यों से अलग कर लेना ही भक्ति है, वह नाचने-कूदने आदि धींगा-मस्ती को अच्छा नहीं समझता। वह तो विनम्रतापूर्वक गुरु-संतों की शरण में जाता है। उनसे बोध प्राप्त करता है और अपने स्वरूप को समझकर स्वरूपस्थिति का अभ्यास करता है।

"मुख कछु और हृदय कछु आना। सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना॥" जो लोग मुख से तो राम-राम कहते हैं और हृदय में राम का अर्थ किसी व्यक्ति विशेष के मुख, ग्रीवा, छाती, हाथ, पैर आदि की सुन्दरता समझते हैं, क्या वे राम को समझ सकते हैं? हम भूलवश किसी देहधारी को परमात्मा मान लें, उसके अंगों की सुन्दरता के वर्णन में प्रशंसा के पुल बांध दें, तो इससे क्या होगा? विकारी भास-अध्यास में ही आसक्ति ! किसी देहधारी के शरीर के अंगों की सुन्दरता उसकी जवानी के दस-पांच वर्षों की चमक-दमक मात्र है। ऐसे पुरुष यदि बीत चुके हैं, तो उनके शरीर की हड्डी का एक टुकड़ा भी नहीं मिलेगा और वे यदि अभी जीवित हैं तो उनका सौन्दर्य देखकर मन थोड़े समय के लिए प्रफुल्लित हो सकता है। परन्तु यह सब क्षणिक एवं विकारी है। यह कोई राम का वास्तविक स्वरूप समझना नहीं हुआ। राम तो हृदय में रमने वाला चेतन है। उसी को परमात्मा, ब्रह्म आदि चाहे जितने शब्दों से सम्बोधित कर लो। उससे अलग कोई राम या परमात्मा नहीं। अतएव जो राम या परमात्मा का अर्थ किसी देह को या मन से गढ़ी हुई कल्पना को समझता है, उसके मुख में तो जरूर राम है, परन्तु हृदय में जड़ाध्यास मात्र है। मुख में राम, मन में काम (वासना) केवल दुख का रास्ता है। "सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना" वह स्वप्न में भी अपने राम स्वरूप को नहीं समझ सकता।

"ते दुख पइहैं ई संसारा।" उन्हें अध्यात्म तथा राम-भक्ति के नाम पर इस संसार में भटकाव ही मिलता है। वे दर्पण की सुन्दरी[1] पकड़ने के चक्कर में जीवन बिता देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "जो चेतहु तो होय उबारा" यदि

---

1. जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि॥ साखी 279॥

सावधान होकर समझ लो कि इन्द्रिय तथा मन से प्रतीतमान सब जड़दृश्य है, राम तो अपना साक्षी स्वरूप चेतन है; तो तुम्हारा अवश्य उद्धार हो जायेगा।

"जो गुरु किंचित निंदा करई। सूकर श्वान जन्म ते धरई॥" निंदा तो किसी की भी करना बुरी बात है। फिर गुरु की निंदा करना तो अपने पतन का पथ अपनाना है। यहां का यह भावुक अर्थ न समझ लेना चाहिए कि गुरु कामी हो तो उसे कृष्ण, क्रोधी हो तो उसे परशुराम, मोही हो तो उसे राम, लोभी हो तो उसे वामन समझकर उसकी पूजा ही करना चाहिए। गुरु कैसा भी भ्रष्ट हो, परन्तु वह देवों का देव है—ऐसा समझना अपनी आंखें फोड़ लेना है! कामी, क्रोधी, लोभी, मोही एवं राग-द्वेष में लिप्त तो पतित जीव है, वह गुरु काहे का! वास्तव में सत्यज्ञान, स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं स्वरूपस्थिति का अनादर करना ही गुरु-निंदा करना है। जो सद्ज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की रहनी से चलता है वह भला सच्चे गुरु एवं सन्तों की निंदा कैसे करेगा जो परमार्थ पथ के अनुशास्ता हैं! अतएव यहां का अर्थ है कि जो स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं स्वरूपस्थिति का अनादर करता है, उसे संसार-नगर में भटकना है। वह आज ही स्थूल बुद्धि वाला पशु बना है। आगे भी उसे वही बनना है।

"लख चौरासी जीव जन्तु में, भटकि भटकि दुख पाव।" यहां सद्गुरु ने भारतीय धर्ममान्यतानुसार चौरासी लाख योनियों में अज्ञानी जीवों को भटकने की बात कही है। हमारे पूर्वजों ने योनियों की गणना कर चौरासी लाख पक्का कर लिया होगा, तब ऐसा कहना शुरू किया होगा या अनुमान के आधार पर चौरासी लाख कहा होगा? लगता है अनुमान के आधार पर ही कहा गया है। कबीर देव ने यहां परम्परया बात कह दी है। यहां शाब्दिक अर्थ न मानकर लाक्षणिक अर्थ मानना चाहिए—जीव नाना योनियों में भटकता है।

"कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥" सद्गुरु कहते हैं कि मुझे वही प्यारा लगता है जो राम को 'जानता' है। संसार में राम को मानने की बात का बड़ा हो-हल्ला है। लोग कहते हैं—"हम राम को मानते हैं। अमुक व्यक्ति या अमुक मत वाले राम को नहीं मानते: किन्तु हम और हमारा मत राम को मानते हैं।"

सद्गुरु कहते हैं कि आप लोग राम को मानते तो हैं, परन्तु उसे जानते कितने लोग हैं? जाने बिना मानना एक बाल-मनोरंजन है। यह ठीक है कि बच्चे को पढ़ाया गया क माने कबूतर, तो उसे मान लेना चाहिए, तर्क नहीं करना चाहिए। परन्तु व्यक्ति को हम कब तक बच्चा बनाये रखने का प्रयत्न करें। अंतत: उसका मानना तभी सफल होगा जब वह उसे ठीक से जान लेगा।

कबीर साहेब ने बीजक में राम को जानने पर बहुत जोर दिया है—"राम नाम जाने बिना, भव बूड़ि मुवा संसार॥"[1]—"राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥"[2] "कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥ "[3]—"आपुहि बाउर आपु सयाना, हृदया बसै तेहि राम न जाना॥"[4] इत्यादि।

स्वरूपस्थिति-सुख

रमैनी-68

तेहि वियोगते भयउ अनाथा। परेउ कुंज बन पावै न पन्था॥ 1॥
वेदो नकल कहै जो जाने। जो समझै सो भलो न माने॥ 2॥
नटवट विद्या खेलै जो जानै। तेहि गुण को ठाकुर भल मानै॥ 3॥
उहै जो खेलै सब घट माहीं। दूसर कै कछु लेखा नाहीं॥ 4॥
भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु कै जन पूरा पावै॥ 5॥
साखी—जेकर शर तेहि लागे, सोई जानेगा पीर।
लागे तो भागे नहीं, सुख सिन्धु निहार कबीर॥ 68॥

शब्दार्थ—तेहि=राम, अपना स्वरूप। वियोग=विस्मरण। कुंज बन=घना जंगल, खानी-वाणी जाल। नकल=बनावटी। नटवट=नटवत, नट के समान। विद्या=कला। लेखा=गिनती, महत्त्व, प्रश्न। भलो=अच्छा, सुखद। पोच=बुरा, दुखद। कैसहु कै=जिस किसी प्रकार, हर प्रकार। जन=साधक, ज्ञानी। पूरा पावै=संतोष प्राप्त करता है, स्वरूपस्थिति प्राप्त करता है। शर=बाण, विवेकवृत्ति।

भावार्थ—(पिछली रमैनी की साखी की आखिरी पंक्ति में सद्गुरु ने कहा है "कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥" इस रमैनी में उसी संदर्भ को लेकर कहते हैं—) उसी अपने स्वरूप-राम के विस्मरण से तुम दीन बनकर खानी-वाणी के महा घने जंगल में उलझ गये हो और समाधान का रास्ता नहीं पा रहे हो॥ 1॥ वेद भी अध्यात्मतत्त्व एवं स्वरूपज्ञान की अभिव्यक्ति न कर अधिकतम यज्ञ-याग आदि नकली बातों के वर्णन से भरे हैं। जो वेद-विहित इन यज्ञों के तत्त्व को जानता है कि कैसे-कैसे इनमें हिंसा का विधान है और यज्ञ के फल में पाप कटने, पुत्र, धन, राज्य, स्वर्ग आदि मिलने

1. बीजक, रमैनी 1।
2. रमैनी 36।
3. रमैनी 67।
4. रमैनी 41।

के झूठे प्रलोभन हैं, इन सब बातों को जो समझता है, वह वेदोपदेश रूप यज्ञों को अच्छा नहीं मानता॥ 2॥ इसी प्रकार हठयोगियों की भी दशा है। वे नट के समान आसन, मुद्रा, भूमि-समाधि, जल-समाधि आदि दिखाने की कलाबाजी खूब जानते हैं। इस गुण को उनके स्वामी लोग बड़ा अच्छा मानते हैं। परन्तु इसमें दुनिया को रिझाकर धन-यश कमाने के सिवा कोई आत्मकल्याण या लोककल्याण नहीं है॥ 3॥ अतएव वैदिक यज्ञ-याग और हठयोगादि से हटकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति में ही जीव का कल्याण है। वे ही राम-रूप चेतन सब घटों में खेल रहे हैं। उनमें दूसरे के अस्तित्व का कुछ प्रश्न ही नहीं उठता॥ 4॥ जीवन में भले और बुरे दिन तो आते हैं, परन्तु साधक उन्हें हर प्रकार सहता हुआ स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है॥ 5॥

यह मार ऐसी है कि जिसका छोड़ा हुआ बाण है उसी को लगता है, इसलिए वही उसकी पीड़ा भी जानता है। अर्थात साधक का विवेक वृत्तिरूपी बाण उसके हृदय को वेधकर तथा उसे संसार से काटकर अलग कर देता है। इस पीड़ा को वह साधक ही जानता है। यहां पीड़ा शब्द उलटवांसी रूप है; क्योंकि यह पीड़ा नहीं चिरंतन सुख है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसकी विवेकवृत्ति स्वरूपस्थिति में लग गयी है उसे चाहिए कि वह जीवनपर्यन्त सावधान होकर उसी में लगा रहे। साधना और त्याग के भय से उससे भागे नहीं, प्रत्युत उसी स्वरूपस्थिति रूपी सुख-सागर में निरंतर निमग्न रहे॥ 68॥

व्याख्या—"तेहि वियोग ते भयउ अनाथा" यहां वियोग का अर्थ बिछुड़ना नहीं है; क्योंकि बिछुड़ना दो के संयोग के बाद होता है। जीव स्वरूपतः असंग है। अतएव यहां वियोग का शाब्दिक अर्थ न कर लाक्षणिक करना चाहिए। यहां वियोग का लाक्षणिक अर्थ है विस्मरण, भूल जाना। जैसे कोई नशा के कारण गले के हार को भूल गया और दुखी हो गया। नशा दूर होने पर गले में पड़े हुए हार की याद आ गयी और वह खुश हो गया। न हार खोया और न मिला। हार तो गले में सब समय मौजूद ही था। केवल नशा के कारण उसका विस्मरण होने से दुख आ गया था और नशा दूर होने पर उसका स्मरण आ जाने से सुख आ गया।

सद्गुरु कहते हैं कि व्यक्ति अपने अविनाशी आत्मा राम के विस्मरण से दीन बन गया है। परम शक्तिसंपन्न अपने चेतन स्वरूप को न पहचानने से व्यक्ति स्वयं को दीन, अनाश्रय और अनाथ मान लिया है। वह पेड़, पानी तथा पत्थरों के सामने अपने मत्था टेकता है। क्या इनसान पेड़-पत्थरों से भी तुच्छ हो गया है। जो स्वयं सुख का सागर है वह स्वरूपज्ञान के अभाव में दुखों में पड़ा बिलबिला रहा है।

"परेउ कुंज बन पावै न पन्था" वह पेड़, पौधों, लता, बौड़ियों से ढके हुए घोर जंगल में उलझ गया है। देह, अवस्था, नाम, रूप, परिवार, मित्र, स्व-जन, पर-जन, राग-द्वेष, हानि-लाभ, देवी-देवता, शास्त्र-परंपरा कितने नाम गिनाये जायें, यह सब मिलकर महा घोर जंगल है। इस जंगल में जीव उलझ गया है। इसमें ऐसा उलझा कि अपने स्वरूप को पहचानने का रास्ता नहीं मिलता। जीव इन्द्रिय-भोगों तथा संसार के राग-द्वेषों में डूबा रहता है और यदि इनसे कुछ निकलता है, तो नाना धार्मिक मान्यताओं में उलझकर अपने स्वरूप की पहचान से दूर ही पड़ा रहता है।

"वेदो नकल कहै जो जाने। जो समझै सो भलो न माने॥" हमारी भारतीय-परंपरा के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। हमारे पूर्वजों द्वारा दिये गये वे हमारे लिए मूल्यवान धरोहर हैं। उनमें हमारी पूर्व परंपरा के इतिहास, संस्कृति, रीति-रिवाज, मान्यता, कर्मकांड, सामाजिक नियम, भौतिक-मानसिक स्थिति आदि की झलकियां हैं। हम आशा करते हैं कि वेदों को पढ़कर हमें अपने स्वरूपज्ञान का परिचय हो जायेगा और हमारी सारी आध्यात्मिक जिज्ञासाएं शांत हो जायेंगी। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वेद नकली कर्मकांडों के वर्णन में ही व्यस्त हैं। 'वेदो नकल कहै' अर्थात वेद भी प्रायः नकल कहते हैं। नकल का अर्थ है बनावटी। अमुक यज्ञ करने से पुत्र मिलेगा, अमुक यज्ञ करने से राज्य, अमुक यज्ञ करने से विजय, अमुक यज्ञ करने से स्वर्ग आदि मिलेंगे— यह सब बनावटी बातें हैं। यज्ञों के विस्तार का जिन ग्रन्थों में वर्णन है, वहां पढ़कर देखिए विवेक-बुद्धि से कोई मतलब नहीं। केवल अंधविश्वास। अमुक देवता के नाम के साथ अमुक वेदमन्त्र, अमुक देवता के नाम के साथ अमुक वेदमन्त्र पढ़कर अग्नि में जौ, घी, मेवे, औषधियां आदि डालकर हवन करने की बात!

प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उन्हीं की प्रार्थना में लिखे गये मन्त्रों से वेद भरे हैं। बीच-बीच में कहीं सत्योपदेश के हीरे-मोती जैसे मन्त्र टंके हैं और अध्यात्म के मन्त्र तो खोजने पर कहीं मिलते हैं, जिनका भाष्यकारों द्वारा प्रायः कर्मकांडपरक अर्थ किये जाने के कारण जिज्ञासु की रही-सही आशा भी धूमिल हो जाती है।

वैदिक यज्ञों में हिंसा का बोलबाला रहा है। बौद्ध और जैन को छोड़कर प्रायः हर पुरानी धर्म-परंपरा में बलि, कुर्बानी आदि के नाम पर पशुहत्याएं होती रही हैं। वैदिक परंपरा की भी यही बात थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 162वें तथा 163वें सूक्तों के 35 मंत्रों में अश्वमेघ यज्ञ के क्रम में वध किये जाने वाले अश्व का जो वर्णन है, देखने योग्य है। यजुर्वेद (25/31-45) में भी यही बात

है। यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के पूरे चालीस मंत्रों में यही वर्णन है कि किस देवता के लिए किस पशु की बलि दी जाये। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं "जो समझै सो भलो न माने।" जो इन सब बातों को समझता है वह इन्हें अच्छा नहीं मानता। सांख्यवादी ईश्वरकृष्ण ने लिखा है—"जैसे सांसारिक भोग जीव के दुख दूर नहीं कर सकते, वैसे वैदिक कर्मकांड भी अशुद्धि, क्षय तथा सातिशय दोषों से लिप्त होने से कल्याणकर नहीं हो सकते।[1] इसके लिए तो जड़-चेतन का विवेक ही ठीक रास्ता है।"[2]

श्रीमद्भागवत में लिखा है—लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है। क्योंकि वेद-वाक्य भी विशेषतः गृहस्थ-जनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष-रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है।[3] मुण्डक उपनिषद् के ऋषि चारों वेदों तथा छहों वेदांगों को अपरा एवं संसारी विद्या बताकर कहते हैं कि जिससे अविनाशी तत्त्व का बोध होता है वह परा विद्या वेदों से परे है।[4]

इन सबका सार यह है कि आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति, स्वरूप की पहचान एवं स्वरूपस्थिति के लिए हमें वेद कोई खास सहायक नहीं हो पाते।

"नटवट विद्या खेलै जो जानै" हठयोगी लोग नट के समान तमाशा दिखाने की विद्या जानते हैं, तो वह विशेष तमाशा ही है। उससे कोई कल्याण नहीं है। कबीर साहेब के समय में हठयोग का बहुत प्रचार था। हठयोगी लोग अपने आसन तथा मुद्रा दिखाया करते थे। हठयोगियों के बाजारूपन को कबीर साहेब ने बहुत नजदीक से देखा था। इसमें शारीरिक व्यायाम तथा लोक-दिखावा कर यश तथा धन पाने की बात ही ज्यादा है। हठयोग स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति का पथ नहीं है।

"उहै जो खेलै सब घट माहीं। दूसर कै कछु लेखा नाहीं॥" सद्गुरु कहते हैं सत्संग तथा विवेक द्वारा अपने स्वरूप को पहचानो। तुम्हारा स्वरूप चेतन है। यह चेतन राम ही सभी घटों में खेल रहा है। जो सब घटों में प्रकाशक हैं, उन चेतन जीवों के अलावा कहीं कुछ खोजने की आवश्यकता नहीं। अर्थात

---

1. यज्ञ हिंसायुत होने से उसमें अशुद्धि है, यज्ञ का फल स्वर्ग नाशवान होने से क्षय-दोषयुक्त है तथा यज्ञ-फल स्वर्ग में लोगों की ऊंची-नीची स्थितियां होने से सातिशयता (विषमता) युक्त है। स्वर्ग केवल कल्पित है, यह बात अलग है।
2. सांख्यकारिका, 2।
3. तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरुविजृम्भितेषु।
   न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ (5/11/2। गीता प्रेस टीका)
4. मुण्डक 1/4-5।

सब व्यक्तियों का अपना-अपना चेतन स्वरूप ही अपना-अपना परम निधान है।

"भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु कै जन पूरा पावै॥" जिसे स्वरूपज्ञान हो गया है, वह देहाभिमान छोड़ देता है। जिसका देहाभिमान मिट जाता है, उसे अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुखद सारे अवसर सम हो जाते हैं। वह अनुकूल समय आने पर विशेष हर्षित नहीं होता तथा प्रतिकूल अवसर आने पर शोकित नहीं होता। वह हर प्रकार की स्थिति में अपनी आत्मा को सबसे ऊपर रखता है। जो सारी भौतिक स्थितियों को क्षणिक समझकर उनमें प्रभावित नहीं होता, वह साधक जीवन में पूर्णता प्राप्त करता है। 'पूरा पावै'—पूर्णता पाना है। पूर्णता पाने का अर्थ है हर समय मन का प्रसन्न रहना, तृप्त रहना। ऐसी दशा में कभी मन में पीड़ा नहीं आती। अखंड सन्तोष, परम तृप्ति जीवन की सर्वोच्च सफलता है। यह आत्मबोध, स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति का ही फल है।

"जेकर शर तेहि लागे, सोइ जानेगा पीर" जब कोई बाहरी बाण चलाता है, तब उसका छोड़ा हुआ बाण दूसरे को लगता है और उसकी पीड़ा भी दूसरे लगने वाले को होती है। परन्तु इस आध्यात्मिक क्षेत्र में उलटी स्थिति है। इसमें तो जिसके छोड़े हुए बाण रहते हैं, उसी को लगते हैं और वही उसकी पीड़ा भी जानता है। यहां साधक बाण चलाने वाला है, उसकी विवेकवृत्ति बाण है और यह बाण लगता भी उस साधक के अपने हृदय में ही है। संसार में जब किसी व्यक्ति को बाण लगता है, तब वह उसके शरीर और प्राण को अलग कर देता है, किन्तु यहां साधक के हृदय में बाण लगने पर वह जड़-चेतन की मोहग्रन्थि को तोड़ देता है और जीव देह से भिन्न अपनी असंगता का बोध करने लगता है। इस जड़-चेतन के पृथक्करणजनित सुख को दूसरा कौन जान सकता है। यह भी वही साधक ही जानता है। इस दिव्य सुख को उलटवांसी में पीड़ा शब्द से कहा गया है। विवेकवान का जब इस स्वरूपस्थितिजनित सुख से कभी प्रमादवश एक क्षण के लिए भी बिछुड़न हो जाता है, तब उसे मणि-फणि-वियोग[1] इव बेचैनी होती है। पीड़ा का सकारात्मक अर्थ इस अभिप्राय में घट सकता है। वैसे यहां "सोई जानेगा पीर" में पीर एवं पीड़ा उलटवांसी ही है जिसका अर्थ स्वरूपस्थिति-सुख है। इसका स्पष्टीकरण अलग पंक्ति में हो जाता है—

"लागे तो भागे नहीं, सुखसिन्धु निहार कबीर" यह विवेक का सुखदायी बाण जब साधक के हृदय में लग जाता है, तब साधक इस स्थिति को छोड़कर

---

1. सांप के पास मणि होती है यह एक काल्पनिक कहावत कवि-जगत में बातों को समझाने के लिए चलती है।

अलग नहीं जाता। वह सदैव सुख-सागर स्वरूपस्थिति को ही देखता है। यहां देखने का अभिप्राय है कि उसकी दृष्टि में केवल स्वरूपस्थिति-सुख का महत्त्व रहता है। वह सदैव स्वरूपस्थिति के आनंदसागर में गोते लगाता रहता है। श्री रामरहस साहेब ने इसी को कहा है—"आनंद लहरि के समुद्र अगाध" तथा "बसै आनंद अटारी।"

साधु-वेषधारियों का व्यामोह

रमैनी-69

ऐसा योग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥ 1॥
महादेव को पन्थ चलावै। ऐसो बड़ो महन्त कहावै॥ 2॥
हाट बजारे लावै तारी। कच्चा सिद्ध माया प्यारी॥ 3॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब शुकदेव तोपची जोरी॥ 4॥
नारद कब बन्दूक चलाया। ब्यासदेव कब बम्ब बजाया॥ 5॥
करहिं लराई मति के मन्दा। ई अतीत की तरकसबन्दा॥ 6॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना॥ 7॥
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाय जस चले करोरा॥ 8॥
साखी—सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥ 69॥

शब्दार्थ—गफिलाई=असावधानी। महादेव को पन्थ=शिवदल, शैवमत। हाट=छोटा बाजार। बाजार=बड़ा बाजार। तारी=समाधि। दत्ते=दत्तात्रेय। मावासी=मवासी, किला। तोपची=तोपचालक। बम्ब=जुझाऊ बाजा। अतीत=त्यागी। तरकस बन्दा=तरकश बांधने वाले (तरकश चाम का थैला होता है, उसमें बाण रखकर पीठ पर बांधा जाता है), अस्त्र-शस्त्रधारी। घोरा घोरी=घोड़ा-घोड़ी। करोरा=करोड़पति, धनी। सुन्दरी=स्त्री। सनकादिक=सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार, त्यागी-विरक्त सन्त।

भावार्थ—हे भाई! ऐसा योग नहीं देखा कि योग-सिद्धि के बाद भी असावधान होकर भटकता फिरे॥ 1॥ लोग महादेव का पन्थ चलाते हैं और इस प्रकार ये बहुत बड़े महन्त कहलाते हैं॥ 2॥ ये यश और धन के लिए भीड़ भरे हाट-बाजार में समाधि लगाकर संसार को अपने चमत्कार दिखाते हैं। ये माया से मोह रखने वाले कच्चे सिद्ध हैं॥ 3॥ (ये अपना रोब दिखाने के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर जब कुंभ-जैसे मेलों में निकलते हैं, तब इनका उन्मादी स्वभाव देखो। क्या यह विरक्ति है?) दत्तात्रेय जी ने कब किसका किला तोड़ा

था? शुकदेव जी ने कब तोप चलाने वाली फौज संगठित की थी? नारद जी ने कब बंदूक चलायी थी, और व्यासदेव जी ने कब जुझाऊ बाजा बजाकर किसी पर हमला किया था?॥ 4-5॥ ये मंदमति लड़ाई-झगड़े करते हैं। ये त्यागी हैं कि शस्त्रधारी लड़ाकू !॥ 6॥ दिखाने के लिए विरक्ति का वेष पहन लिये, परन्तु मन से पक्का लोभी बन गये। सोने-हीरे आदि के आभूषण एवं सोने से अलंकृत वस्त्र पहनकर साधु-वेष को लज्जित करते हैं॥ 7॥ घोड़ा-घोड़ी बटोर लिये तथा रजवाड़ों से गांव दान में पा गये और चल पड़े करोड़पति का ठाट बनाकर॥ 8॥

कतिपय साधु-संन्यासी तो स्त्रियों को भी साधुनी एवं संन्यासिनी बनाकर साथ में ले लेते हैं अथवा मठों में रखते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि त्यागियों के साथ में स्त्रियों का रहना शोभा नहीं देता। यदि कोई अपने हाथों में कालिख लगी हंडी लिये रहेगा, तो कभी-न-कभी वह उसको काला दाग लगा ही देगी॥ 69॥

व्याख्या—सद्गुरु व्यंग्य भरे शब्दों में कहते हैं "ऐसा योग न देखा भाई।" यह कौन-सा योग है जिसके पीछे माया का प्रलोभन हो ! जो अपने विवेक-वैराग्य से असावधान हो, जो लोकरंजन में लगकर हाट-बाजार में समाधि लगाता फिरे, क्या वह योगी है? सच्चा योगी तो अनासक्त होता है। ये तो कच्चा सिद्ध हैं। इनका ध्यान तो माया पर है।

शैवमत वाले साधुवेषधारी लोगों ने पुराकाल में हिन्दू रजवाड़ों द्वारा जागीरें पायीं थीं। उनमें धनपति महन्त होते थे। वे अस्त्र-शस्त्र भी रखते थे। शैवदल के लड़ाकू साधुओं ने वैष्णव-साधुओं की हत्याएं भी की थीं। इसलिए वैष्णव लोग हार-थककर नागा दल बनाये थे जो शैवों से लड़ सके। वैष्णव अहिंसावादी होते थे, परन्तु शैवों के दबाव में पड़कर उनको वैरागी-नागाओं का दल खड़ा करना पड़ा था।

ये शैव लोग जब कुंभ-जैसे मेलों में अपनी शोभायात्रा निकालते थे, तब अस्त्र-शस्त्र लेकर चलते थे और प्रथम स्नान की होड़ में मार-काट तक कर देते थे। चांदी-सोने के अलंकरणों से सजे हुए बड़े राजसी ठाट-बाट से चलते थे। ये अहिंसक वैष्णवों को सताने में आगे रहते थे। इनके इन सब उपद्रवी व्यवहारों को देखकर सद्गुरु ने इनके ठाट-बाट और महन्ती पर व्यंग्य किया है तथा इनके अस्त्र-शस्त्र बांधने पर इनसे प्रश्न किया है कि जिनको आप अपना श्रद्धेय तथा पूर्वज मानते हो, क्या उन्होंने ऐसा किया था? दत्तात्रेय, शुकदेव, नारद, व्यास आदि महापुरुषों ने कब तोप, बंदूक तथा अस्त्र-शस्त्र बांधकर लोगों से लड़ाइयां लड़ी थीं?

साधु को अस्त्र-शस्त्र बांधना, लड़ाई-झगड़े करना, सोना-चांदी आदि के आभूषण धारण करना अशोभनीय है। यदि साधु-महन्तों के पास धन हो तो उनको चाहिए कि उसे जन-कल्याण में लगायें, स्वयं राजसी ठाट न बनायें।

"सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।" इस पंक्ति से लगता है कि कबीर देव के काल में भी ऐसे साधु-संन्यासी होते थे जो स्त्रियों को साधुनी-संन्यासिनी बनाकर अपने साथ रखते थे। यह बात आज-कल भी कहीं-कहीं देखी जाती है। सद्गुरु ने यहां कितनी मधुर व्यंजना के साथ यह बात कही है—"सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।" साधु-संन्यासियों के साथ में स्त्री नहीं शोभती। इस खतरे से बचने के लिए उन्होंने कैसा सुन्दर उदाहरण देकर हमें सावधान किया है—"कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥" हाथ में कालिख पुती हंडी लेकर चलेंगे, तो वह कभी-न-कभी दाग लगायेगी ही।

उन साधु-संन्यासियों की दयनीय दशा है जो अपने साथ में स्त्रियां रखते हैं। वे अपना विनाश तो करते ही हैं, समाज में भ्रम पैदाकर वेष पर धप्पा लगाते हैं। साधु-संन्यासियों को चाहिए कि वह न तो स्त्रियों को साथ में रखे, न मठ में। यदि स्त्रियां एक जगह रहकर साधना करना चाहें, तो उनका पुरुषों से अलग अपना स्वतन्त्र आश्रम होना चाहिए और उनमें पुरुषों का सम्बन्ध बिलकुल नहीं होना चाहिए।

एक विद्वान ने अपनी पुस्तक में यह प्रश्न उठाया है—"कबीर के समय में बन्दूक नहीं थी। अतः 'नारद कब बन्दूक चलाया' इस रमैनी में होने से, यह रमैनी पीछे का प्रक्षेप है।" इस प्रश्न का उत्तर 'कबीर दर्शन' के पहले अध्याय के 'रचना-बीजक' संदर्भ में दिया जा चुका है। कबीर साहेब के काल से पहले ही बन्दूक बन गयी थी तथा कबीर साहेब जब पचास वर्ष की उम्र से ज्यादा थे, तब काशी के निकट जौनपुर में बन्दूक से लड़ाई हुई थी। इसलिए इस रमैनी पर संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं है।

वाणी-सुधार

रमैनी-70

बोलना कासो बोलिये रे भाई। बोलत ही सब तत्त्व नशाई॥ 1॥
बोलत बोलत बाढ़ु विकारा। सो बोलिये जो पड़े विचारा॥ 2॥
मिलहि सन्त बचन दुइ कहिये। मिलहि असंत मौन होय रहिये॥ 3॥
पण्डित सो बोलिये हितकारी। मूरख सो रहिये झखमारी॥ 4॥
कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा होय विचार ले बोलै॥ 5॥

शब्दार्थ—बोलना=बात। सब तत्त्व=वाणी के सब गुण। पण्डित=सारासार विवेकी। झखमारी=निराश।

भावार्थ—हे भाई ! बात किससे की जाये ! जो उपयुक्त पात्र नहीं है, उससे ज्ञान-चर्चा करने पर चर्चा के सारे गुण नष्ट होते हैं॥ 1॥ अनधिकारी आदमी के सामने यदि ज्ञान-चर्चा करते गये, तो उलझन, क्रोध आदि के विकार ही बढ़ेंगे। अतएव बात करने के पहले यह विचार कर लेने की आवश्यकता है कि सामने वाले व्यक्ति की पात्रता क्या है, उसके विचार कैसे हैं और वह क्या समझ सकता है !॥ 2॥ संत मिलें, तो उनसे दो बातें कर लो, और यदि असंत मिले तो उनके सामने चुप रहो॥ 3॥ कोई पण्डित, समझदार एवं विवेकी मिले तो उससे कल्याण की बातें करो, और मूर्ख के मिलने पर अपना मन मारकर चुप रह जाओ॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं जब आधा घड़ा पानी रहता है तब वह छलकता है और जब घड़ा पूरा भरा रहता है तब छलकता नहीं और यदि वह आवाज करता है तो उसकी आवाज गंभीर रहती है॥ 5॥

व्याख्या—वाणी का बड़ा महत्त्व है। यह मानव का परम सौभाग्य है कि उसे विकसित मन[1] के साथ प्रकृति के द्वारा दूसरा वरदान वाणी की शक्ति मिली है। मानव ऐसा सौभाग्यशाली प्राणी है जो अपने मन की बातें अपनी वाणी द्वारा दूसरे के सामने व्यक्त करता है तथा दूसरे के अन्तर्मन की बातें उसकी वाणी सुनकर समझता है। परन्तु जो शक्ति जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उसका दुरुपयोग करने से वह उतनी ही हानिकारक होती है।

कब, किससे, क्या, कितना और कैसे बोलना चाहिए—इन पांचों सूत्रों को जिसने अपने जीवन में हल कर लिया, उसने अपनी वाणी पर विजय पा ली। (1) 'कब' बात करने के समय का सूचक है, (2) 'किससे' जिससे बात की जाये उस व्यक्ति का सूचक है, (3) 'क्या' वार्ता के विषय का सूचक है, (4) 'कितना' वार्ता की मात्रा का सूचक है तथा (5) 'कैसे' वार्ता की शैली का सूचक है।

1. कब—हम अगले आदमी से जिस बात की चर्चा करना चाहते हैं उसका उपयुक्त समय कब होगा—इसकी परख होना आवश्यक है। माता, पिता, गुरु, अधिकारी एवं बड़े लोगों से कुछ निवेदन करना है, परन्तु उनका मन यदि तैयार नहीं है, वे यदि प्रसन्न मुद्रा में नहीं हैं, वे तुम्हारी बातों को सुनने के रुख में नहीं हैं या वे किसी अन्य कार्य में व्यस्त हैं, तो हो सकता है उस समय तुम्हारा उनसे कुछ कहना निष्फल जाये। अपने से बड़े लोगों की बात जाने दीजिए; पत्नी, बच्चे, शिष्य तथा नौकर के भी मन को देखना पड़ता है। उनकी स्थिति को देखना पड़ता है। आप अनुकूल समय में बड़ी-से-बड़ी बातें भी दूसरों से मनवा सकते हैं, किन्तु समय की अनुकूलता न होने से छोटी-सी बात

1. मन की शक्ति के विषय में साखी प्रकरण की प्रथम साखी की टीका देखें।

भी अगले आदमी से मनवा पाना कठिन हो जाता है। अतएव अपनी बात कहने के लिए अनुकूल समय की परख होना चाहिए। सार्वजनिक भाषण में भी समय की अनुकूलता का अपना बड़ा महत्त्व होता है। किसी भी विषय पर सभी समय नहीं बोला जा सकता।

2. **किससे**—जिससे हम अपनी बातें कहने जा रहे हैं उसकी योग्यता क्या है, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। बहुत भावुक तथा अंध-श्रद्धालु आदमी के सामने लम्बा-चौड़ा चिंतन एवं तर्कपूर्ण विचार रखना अपना तथा उसका समय बरबाद करना है। जो बेसमझ है तथा समझदार होते हुए भी किसी भावना से ग्रसित एवं मताग्रही है, उसके सामने अधिक विचार की बातें करना झख मारना है। 'झख' कहते हैं मछली को। मछुवारे बंसी लेकर जलाशय में मछली मारने जाते हैं। वे कभी-कभी दिन भर प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं प्राप्त कर पाते। इसलिए 'झख मारना' एक मुहावरा बन गया। किसी ने किसी से बहुत बातें कीं, परन्तु वह उसे अपनी बातें नहीं समझा सका, तो वह कहता है 'झख मारता रहा और क्या किया।' फिर झख मारने का अर्थ चुप हो जाना भी हो गया।

अपरिचित आदमी से बात करने में तो बहुत सावधान रहना चाहिए। रेलगाड़ी, बस, जलयान, वायुयान आदि साधनों से यात्रा करते समय अपरिचित आदमी मिलते हैं। कभी-कभी उनमें ऐसे लोग मिल जाते हैं कि उनसे किसी बात पर चर्चा छिड़ जाने पर केवल पश्चाताप हाथ आ सकता है; क्योंकि वे उस बात के योग्य नहीं होते। मूर्ख, हठी, अहंकारी, सांप्रदायिक संस्कारों में डूबे, जड़वाद के प्रमादी आदि से रास्ता चलते बातें करना केवल अपना समय खोना तथा अपने मन में अशांति के बीज बोना है। इसलिए यात्रा में तो मौन ही रहना चाहिए।

मनुष्य की पात्रता देखकर तदनुकूल उससे बातें करना चाहिए। आपसे जो कोई मिले, वह आपसे कुछ लेकर तथा प्रसन्न होकर जाये, इस पर ध्यान रखना बहुत जरूरी है। जो बहुत योग्य पात्र है, उसके सामने भी सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। यदि उसमें पात्रता है तो उससे कुछ मात्रा में चर्चा करना चाहिए। धीरे-धीरे समझते-समझते पात्रता बढ़ती है। पहली बार एवं एक ही बार में ज्यादा बोझा लाद देने से हो सकता है वह हताश हो जाये।

जिससे बात की जानी है, उसके मन को पहले टटोल लेना अति आवश्यक है। हर आदमी के मन में अपने-अपने ढंग के संस्कार भरे होते हैं। अपने संस्कारों के प्रतिकूल बातों से लोगों को अरुचि होती है। इस प्रथम मिलन में कुछ अनुकूल बातें करके ही पीछे से थोड़ी अपनी बातें रखी जा सकती हैं। बिना खेत तैयार किये उसमें बीज डालना बेकार है। इसी प्रकार किसी का हृदय

बिना अनुकूल बनाये अपनी बात उससे नहीं मनवायी जा सकती। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"बात इस प्रकार करे जिससे उसका मन दुखी न हो और उसे रास्ते पर ले आवे। जिसका मन जिस मान्यता में बंधा हो पहले उसकी प्रशंसा कर उसके हृदय में प्रेम का स्थान बनाना चाहिए, उसके बाद अपनी बातें कहनी चाहिए।"[1]

चर्चा चाहे आध्यात्मिक हो या व्यावहारिक, यह ध्यान रखना चाहिए कि जिससे हम मिलें या जो हमसे मिले, मिलन तथा चर्चा के बाद परस्पर स्निग्धता, मधुरता एवं प्रसन्नता उत्पन्न हो। हम किसी को कुछ दे न पायें तो उसका चित्त न दुखायें। इस संदर्भ में हमें भलीभांति समझ लेना चाहिए कि अगले आदमी का मन प्रसन्न करके ही उसे अपनी बातें मनवा सकते हैं।

3. क्या—हमारी चर्चा का 'विषय' क्या है हमें इसका बोध होना चाहिए। यदि हमें स्वयं अपना विषय स्पष्ट नहीं है तो दूसरे का समय बरबाद कर क्या लाभ होगा ! कितने लोग अपना लम्बा-चौड़ा भाषण झाड़ जाते हैं, परन्तु सुनने वाले को यह पता नहीं चलता कि ये महाशय कहना क्या चाहते हैं।

चर्चा का विषय समय और पात्र देखकर भी चुनना पड़ता है। जो स्त्री विवाह में सोहर तथा पुत्रोत्पत्ति-उत्सव में विवाह के गीत गाती है, वह हास्यास्पद बन जाती है। व्यक्तिगत चर्चा में समय और पात्र देखकर 'विषय' चुनना चाहिए, किन्तु सार्वजनिक भाषण में भी समाज देखकर विषय चुनना चाहिए। भोजन परोसने वाले को यह समझ होना चाहिए कि वह इस ढंग से भोजन परोसे कि कोई बिना खाये ही न उठ जाये। थोड़ा-बहुत सभी श्रोताओं को संतोष हो जाये, यह भरसक ध्यान रखना चाहिए।

हमारे मस्तिष्क में बड़े ऊंचे-ऊंचे विचार हैं, परन्तु उन्हें जिसके सामने व्यक्त किया जाये, वैसा पात्र भी तो होना चाहिए। सत्पात्रों का अभाव सदा सबके सामने रहा है। केवल कबीर साहेब ही नहीं कहते हैं 'जाको ढूँढ़त हौं फिरा, ताका परा दुकाल"[2] किन्तु भर्तृहरि जी भी कहते हैं "किससे छंद-प्रबंध की बातें कही जायें, सुनने वाले नहीं हैं।"[3] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते

---

1. ऐसन विधि तेहि पारख देई। चित नहिं दुखै नीक करि लेई॥
   जेहि कर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिले भल सोई॥ (पंचग्रंथी, गुरु. प्र. 21)
2. बीजक, साखी 185।
3. पंडित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान।
   और जीव या जगत के मूरख महा अजान।
   मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।
   छंद प्रबंध कवित्त काव्यरस कासो कहिए।
   वृद्ध भई मन माहिं मधुर वाणी गुण-मंडित।
   अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पंडित। (भर्तृहरि के श्लोक का अनुवाद)

हैं—'तुलसी सठ की को सुने, कलि कुचाल पर प्रीति।' परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि ऊंचे विचारों का कोई पात्र है ही नहीं। समाज में यथासमय ऊंचे विचारों की बातें कहना चाहिए। उनके पात्र अवश्य मिलेंगे। जब तक बात समाज में रखी नहीं जायेगी, लोग पात्र बनेंगे कैसे! कुछ लोगों में पात्रता के अंकुर होते हैं, परन्तु अवसर न पाने से उनका विकास नहीं होता। जब वे अच्छे विचार पाते हैं, तब पात्र बन जाते हैं। यह रात-दिन का अनुभव है कि हर जगह ऊंचे विचार के पात्र मिलते हैं। यह सब होते हुए भी हमें व्यक्तिगत चर्चा तथा सार्वजनिक भाषण में क्रमशः व्यक्ति तथा समाज की मानसिकता एवं योग्यता देखकर अपनी चर्चा एवं भाषण के विषय चुनने चाहिए। इससे हमें अपने उद्देश्य में ज्यादा सफलता मिलेगी।

4. कितना—हमें अपनी चर्चा तथा भाषण की मात्रा का भी बोध होना चाहिए। थोड़े में ज्यादा बातें भी कही जा सकती हैं और लम्बे-चौड़े भाषण में छोटी बातें उलझी ही रह सकती हैं। व्यक्तिगत चर्चा को लम्बे समय तक खींचकर अपने और दूसरे के समय को व्यर्थ बरबाद मत करो। थोड़ी और संतुलित मात्रा की बात वजनदार होती है। कुछ लोग बात करने के इतने रसिक होते हैं कि केवल अपनी बातें कहते हैं, दूसरे की सुनते नहीं। कुछ लोग सभा में भी ऐसे भाषण-बाज होते हैं कि संचालक घंटी-पर-घंटी बजाते रहें और रोकने का प्रयास करते रहें, परन्तु वे रुकना नहीं चाहते। यह वक्ता की कमजोरी है। चर्चा या भाषण की कितनी आवश्यकता है इसकी परख होनी चाहिए। अगले आदमी तथा समाज की रुचि के भीतर चर्चा होनी चाहिए। आपके द्वारा की जाती चर्चा एवं भाषण किसी को बोझ न बनें, किन्तु चर्चा एवं भाषण को लोग प्रसन्नता से ग्रहण करें, यह ध्यान होना चाहिए और इसके लिए संतुलित मात्रा की महती आवश्यकता है।

5. कैसे—किस ढंग से बात की जाये इस पर ध्यान देना भी बहुत जरूरी है। सारी क्रियाओं में शैली का बहुत बड़ा महत्त्व होता है, फिर बात, चर्चा एवं भाषण में तो शैली प्राण तत्त्व है। कठोर-से-कठोर सत्य ऐसी शैली में कह दिया जा सकता है जिसको लोग बड़ी सरलता से ग्रहण कर लें। और सरल-से-सरल बात भी कथन की गलत शैली से अनसुहाती, उलझी हुई तथा छिछली हो जाती है।

किसी व्यक्ति के मिलने पर चर्चा की शुरुआत विरोधी विचारों से नहीं करना चाहिए। दोनों के विचार जिनमें मिलते हों ऐसी बातें ही चर्चा का विषय बनना चाहिए। जहां विचार नहीं मिलते हों, ऐसी बातें छोड़ देना चाहिए।

व्यक्तिगत चर्चा में हो या सार्वजनिक मंच पर भाषण में, हम दूसरों की आलोचना न कर अपनी बातें कहें। यदि प्रसंगवशात दूसरों की आलोचना करना

पड़े, तो पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिनको हम अपना नहीं मानते, उनकी आलोचना करने का हमारा अधिकार नहीं है। जिन्हें हम अपना मानते हैं, हम उन्हीं की आलोचना भी कर सकते हैं। आलोचना में आदर, अपनत्व और शिष्ट शब्द होने चाहिए। वैसे दूसरों की आलोचना से बचना सबसे उत्तम है।

चर्चा या भाषण में स्वर न बहुत ऊंचे हों न बहुत धीमे, किन्तु जिन्हें हम सुना रहे हैं उन्हें बातें आराम से सुनाई दे जायें इतना ही होना चाहिए। बातें तर्कयुक्त, सत्य, प्रिय, हितकर, यथासंभव थोड़ी और निर्विवाद हों इस पर ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार हम बात करने या भाषण करने में उक्त बातों पर ध्यान रखें, तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

कितने ही लोग असंतुलित बोलकर पहले अपने मन और फिर पीछे दूसरे के मन में अशांति पैदा करते हैं। कई बार हम किसी से बातों में उलझकर अपनी शिष्टता और शांति को हार जाते हैं और उस आदमी पर भी हमारा अच्छा प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार हम किसी से बातों में उलझकर केवल अपने साथी या मिलने-जुलने वाले का विश्वास ही नहीं खोते हैं, किन्तु अपनी शिष्टता और शांति भी खोते हैं। अमुक-अमुक लोगों का विश्वास हमें न प्राप्त हो तो कोई बात नहीं। संसार के सभी लोगों को कोई खुश नहीं कर सकता। परन्तु हमें अपनी शिष्टता और शांति अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए; क्योंकि यही जीवन का मक्खन है।

सद्गुरु कबीर ने इस 70वीं रमैनी में वाणी-सुधार का अमृत रसायन भर दिया है। उन्होंने इस रमैनी में इस बात पर जोर डाला है कि अपात्र के सामने बात करके, विकार बढ़ता है, लाभ नहीं होता। उन्होंने पंडित और सन्त से बात करने की राय दी है। जो लोग कहते हैं कि कबीर साहेब ने तो पंडितों को लताड़ा है, वे उनके कथन के केवल एक पक्ष देख रहे हैं। उनके कथन के दूसरे पक्ष में पंडितों का महती आदर है। "पंडित सो बोलिये हितकारी" यहां कहा ही है। उन्होंने इस ग्रन्थ में अन्यत्र कई जगह पंडितों का बड़े आदर से नाम लिया है। "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।"[1] यह एक दूसरा वाक्य काफी है। पंडित वही है जो प्रज्ञावान एवं विवेकी है। दूसरे संत हैं जो शीतल तथा निर्मल बुद्धि के हैं। इस प्रकार उन्होंने समझदारों और सज्जनों से बात करने की राय दी।

सद्गुरु ने कहा कि आधा घड़ा भरा पानी छलकता है और जब घड़ा पूरा भरा रहता है, तब छलकता नहीं और यदि कभी आवाज करता है, तो गम्भीर।

---

1. बीजक, शब्द 53।

इसी प्रकार हलकी बुद्धि का आदमी पिट्ट-पिट्ट बात करता है। समझदार तथा संयत पुरुष मौन रहते हैं और जब बात करते हैं, तब उनकी बात वजनदार होती है। अतः हमें छिछला नहीं, वजनदार होना चाहिए।

निर्लिप्तवाद का दिखावा

रमैनी-71

सोग बधावा जिन्ह समकै माना। ताकी बात इन्द्रहु नहिं जाना॥ 1॥
जटा तोरि पहिरावै सेली। योग युक्ति की गर्भ दुहेली॥ 2॥
आसन उड़ाये कौन बड़ाई। जैसे कौवा चील्ह मिड़राई॥ 3॥
जैसी भीत तैसी है नारी। राज पाट सब गनै उजारी॥ 4॥
जस नरक तस चन्दन जाना। जस बाउर तस रहै सयाना॥ 5॥
लपसी लौंग गने एक सारा। खाँड़ छाड़ि मुख फाँके छारा॥ 6॥
साखी—इहै बिचार बिचारते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाऊँ हेत॥ 71॥

शब्दार्थ—सोग=शोक। बधावा=मंगलाचार, हर्ष-आनंद, खुशी में भेजा हुआ उपहार। सेली=बाल, ऊन एवं रेशम की बनी माला। दुहेली=कठिन, दुखदायी, भारी। पाट=सिंहासन। उजारी=जंगल। बाउर=पागल। सयाना=समझदार, ज्ञानी। लपसी=मीठा। लौंग=कड़वा। एक सारा=एक समान। खाँड़=शकर, चीनी। छारा=धूल। चेत=सावधानी। हेत=प्रेम।

भावार्थ—(आचरणहीन, किन्तु निर्लिप्तवाद का दिखावा करने वाले साधु-वेषधारियों पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु कहते हैं—) जो शोक और मंगल को एक समान मानने का दावा करते हैं, उनकी जालसाजी का रहस्य छल करने में निपुण इन्द्र भी नहीं जान सकता॥ 1॥ नाथपंथी लोग वैष्णवों को वादविवाद में हराकर और जटा के बालों को तोड़कर उनकी माला बना उन्हें पहना देते हैं और उन्हें अपने पंथ में मिला लेते हैं। इनको योग-युक्ति का बड़ा भारी अहंकार है॥ 2॥ ये लोग आसन पर बैठकर योग के बल से आकाश में उड़ने का पाखंड रचते हैं, परन्तु इसमें उनकी क्या विशेषता हुई? कौआ, चील आदि पक्षी भी आकाश में उड़ते रहते हैं। उनसे ये क्या ज्यादा हो गये?॥ 3॥ ये कहते हैं 'हमारे लिए दीवार तथा स्त्री बराबर है। हम राजसिंहासन और जंगल को एक समान मानते हैं॥ 4॥ हमारे ख्याल से नरक और चंदन में कोई अंतर नहीं है। हम पागल और ज्ञानी को भेद दृष्टि से नहीं देखते हैं'॥ 5॥ ये मीठी लपसी तथा कड़वी लौंग एक समान मानते हैं। और शकर को छोड़ मुख में धूल फांककर दिखाते हैं कि देखो, मुझे शकर-धूल में कोई अन्तर नहीं लगता॥ 6॥

इस प्रकार विधि-निषेध-मिलाऊ पाखंडपूर्ण बातों का विचार करते-करते इनकी विवेक-शक्ति तथा सावधानी नष्ट हो गयी। ये जड़-चेतन, विधि-निषेध, खाद्य-अखाद्य एक में मिलाकर अद्वैत ब्रह्म बन रहे हैं। इनकी इस असाध्य मानसिक बीमारी को देखते हुए मैं इनमें से किससे प्रेम करूं?—किसको राय दूं कि यह सब तुम्हारा प्रमाद है॥ 71॥

व्याख्या—विवेकवान हर्ष-शोक वाली बातों में सम रहते हैं, यह बात सच है, परन्तु जो इसका दिखावा कर योग-भोग को एक समान बताते हुए तथा इन्द्रिय-भोगों में लंपट रहते हुए अपने को सिद्ध दिखलाना चाहते हैं, वे निर्लिप्तवाद की आड़ लेकर जालसाजी करते हैं। वे कहते हैं कि हम चाहे योग करें और चाहे भोग करें, हमें हर्ष-शोक नहीं व्यापते। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे लोग महा जालसाज होते हैं। कहा जाता है कि इन्द्र सबसे बड़ा जालसाज[1] था। इसीलिए तो पीछे से इन्द्रजाल नाम से विद्या ही बन गयी जिसमें केवल जालसाजी है। परन्तु सब कुछ करते हुए निर्लिप्ति का दिखावा करने वाले लोग तो ऐसे जालसाज होते हैं जिनका रहस्य इन्द्र भी न समझ पाये।

कहा जाता है कि नाथपंथी लोग वैष्णवों को वाद-विवाद में हरा देते थे; क्योंकि वे तार्किक होते थे और वैष्णव सरल भक्त होते थे। जब वे वैष्णवों को हरा देते थे, तब उनकी जटा के बालों को तोड़कर तथा उनकी माला बनाकर उन्हें पहना देते थे और अपने पंथ में उनकी भरती कर लेते थे। कहा जाता है कबीर साहेब ने नाथपंथियों को हराकर वैष्णवों की रक्षा की थी।

हठयोगियों को योग-युक्ति का भयंकर अहंकार था। वे जगह-जगह योग के चमत्कार दिखाते थे जो उनका एक अभ्यास होता था। ये सारी बातें दिखावा से भरी होती थीं। उनसे जगत का कोई कल्याण नहीं, किन्तु भ्रांति का विस्तार होता था। कोई कहता हमारे योगी गुरु अपना आसन आकाश में उड़ा देते हैं या स्वयं आसन पर बैठे-बैठे आकाश में उड़ने लगते हैं। कबीर साहेब ने कहा, बड़ी अच्छी बात। परन्तु इसमें उनकी क्या विशेषता हो गयी और इससे जगत का क्या कल्याण हो गया! कौआ-चील आदि पक्षी तो आकाश में मंडराते ही रहते हैं। तुम्हारे गुरु आकाश में उड़ लेते हैं, तो वे कौआ तथा चील से ज्यादा नहीं हैं।

वस्तुतः कोई मनुष्य आकाश में उड़ नहीं सकता। हम, हमारे गुरु तथा योगी आकाश में उड़ते हैं, यह कहना बिलकुल झूठ है। एक महात्मा के शिष्यों ने उनके लिए प्रचार कर रखा था कि हमारे गुरु रात में आकाश में उड़ते हैं। जब

---

1. ऋग्वेद 6/47/18 तथा 10/54/2 आदि में इन्द्र को मायावी कहा गया है।

अन्य लोगों ने इस बात के विषय में महात्मा से पूछा तब उन्होंने कहा—बेटा, मैं उड़ता नहीं हूं, किन्तु चेले उड़ाते हैं।

कुछ ब्रह्मज्ञानियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वे कहते थे कि हमारे लिए दीवार तथा स्त्री एक समान हैं। यदि दीवार को छू लिया तो क्या बुरा हुआ! इसी प्रकार स्त्री को छू लिया तो क्या बुरा हुआ! ज्ञानी को द्वैत नहीं भासता। वह राजगद्दी पर बैठकर चाहे राज्य करे और चाहे जंगल में रहे, एक समान है। ऐसी स्थिति में लोग राजा जनक का उदाहरण ठोंक देते हैं। जिनकी कल्पित कहानी में विरक्त शुकदेव को चिन्ताग्रस्त तथा राजा जनक को अनासक्त बताया गया है। ठीक है, राजा जनक अन्य राजाओं की अपेक्षा अनासक्त रहे होंगे, परन्तु भोगों को भोगते हुए निर्लिप्त होने का ढकोसला अपने आप को तथा संसार को बेवकूफ बनाना है। राजा जनक की कहानी का लोग बहुत दुरुपयोग करते हैं।

सब कुछ एक ब्रह्म मानकर नरक तथा चन्दन को, अभक्ष्य मांस-शराबादि तथा भक्ष्य रोटी-भात आदि को एक मानना ज्ञान का दुरुपयोग है। नरक और चन्दन एक कैसे? क्या कोई ज्ञानी रोटी और टट्टी को एक मानकर उनका समान उपयोग करेगा? और यदि करता है तो वह ज्ञानी कहलाने योग्य है? इसी प्रकार पागल और ज्ञानी भी एक समान नहीं। यह ठीक है कि उन्हीं मूल तत्त्वों से चन्दन-नरक दोनों की उत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का उपयोग समान नहीं हो सकता। इसी प्रकार पागल तथा ज्ञानी मूलतः एक समान मानव हैं। परन्तु दोनों का व्यवहार एक नहीं हो सकता।

इसी प्रकार लपसी-लौंग तथा शकर-धूल का भी अपना व्यवहारतः भेद है। जीवन में कुछ कर्तव्य है, कुछ अकर्तव्य है, कुछ खाद्य है, कुछ अखाद्य है, कुछ ग्राह्य है तथा कुछ त्याज्य है। सब धान साढ़े बाइस पसेरी नहीं हो सकता। योग के ढकोसले में भोग करते हुए निर्लिप्तवाद के दिखावे में विधि-निषेध का त्याग कर तथा अपने आप को हर्ष-शोक से ऊपर प्रदर्शित कर प्रपंच तथा छलावा में डूबे हुए योगी तथा ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले लोग समाज के लिए अभिशाप हैं। वे धर्म के क्षेत्र में बिगड़ी घड़ी बनकर समाज को पथभ्रष्ट करते हैं।

"इहै बिचार बिचारते, गये बुद्धि बल चेत" जड़-चेतन एक है, नरक-चन्दन एक है, दीवार-स्त्री एक है, खाद्य-अखाद्य, विधि-निषेध कुछ नहीं। ज्ञानी वही है जिसको भिन्नत्व का भास ही नहीं होता है—ऐसा विचार करते-करते इन लोगों की बुद्धिशक्ति नष्ट हो जाती है और गलत कर्मों से बचने के लिए सावधानी नहीं रह जाती। सब कुछ एक मानने के ढकोसले में पड़कर दो महत्त्वपूर्ण गुण नष्ट हो जाते हैं, सद्गुरु ने उन्हें 'बुद्धिबल' तथा 'चेत' कहा है।

बुद्धिबल से ही हम जड़-चेतन, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य का निर्णय करते हैं। जो व्यक्ति निरंतर यह सोचता है कि जड़-चेतन, विधि-निषेध आदि कुछ है ही नहीं, सब कुछ एक ही है, उसकी विवेकशक्ति क्षीण होगी ही। और बुद्धिबल तथा विवेकशक्ति क्षीण हो जाने पर, उसके ख्याल से कुछ ऐसा रह ही नहीं जाता है जो बंधनदायी हो और उससे सावधान एवं अलग रहने की बात हो। उसके ख्याल से दीवार तथा स्त्री एक समान होती है। उसके ख्याल से तो 'भोगे युवती सदा संन्यासी'[1] युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ज्ञानी सदैव संन्यासी है। फिर ऐसे लोगों को सावधानी की क्या आवश्यकता? वे तो समझते हैं—"त्यागहुं विषय कि भोगहु इन्द्रिय, मूंकूं लगै न रंचक रंग।"[2]

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसे लोगों को समझाकर रास्ते पर लाना बड़ा कठिन है। वे कहते हैं—"ज्ञानी तो निरभय भया, मानै नाहीं संक। इन्द्रिय केरे बसि परा, भुगतै नरक निसंक॥"[3] जो "दुइ मिलि एकै होय रहा" जड़-चेतन, भोग-योग, विधि-निषेध एक में मिलाकर तथाकथित ब्रह्मज्ञान की ऊंची चोटी पर चढ़ गया, उसको सदाचार के रास्ते पर लाना बड़ा कठिन है। सद्गुरु कहते हैं "मैं काहि लगाऊँ हेत" मैं किससे प्रेम करूं, किसको समझाऊं! अज्ञानी तो समझ सकता है, परन्तु ज्ञान के ढकोसले के परदे के पीछे भोगपरायण लोग नहीं समझ सकते।

माया का आश्चर्यजनक तथा पतनकारी रूप

रमैनी-72

नारी एक संसारहि आई। माय न वाके बापहि जाई॥ 1॥
गोड़ न मूँड़ न प्राण अधारा। जामें भभरि रहा संसारा॥ 2॥
दिना सात ले उनकी सही। बुद अदबुद अचरज का कही॥ 3॥
वाहिक बन्दन करे सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥ 4॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, हस्ती सिंहहि खाय॥ 72॥

शब्दार्थ—नारी=माया, इच्छा, कल्पना। बापहि=जीव। जाई=पैदा किया। भभरि=भयभीत, भ्रम में पड़ना। दिना सात=रविवार से शनिवार सातों दिन। सही=सत्य, प्रामाणिक। बुद=ज्ञानी, विद्वान। अदबुद=अज्ञानी, अविद्वान। मूस=जीव। बिलाई=माया, इच्छा। हस्ती=मन, माया। सिंह=जीव।

---

1. विचार सागर।
2. विचार सागर।
3. साखी ग्रन्थ।

भावार्थ—संसार में इच्छा एवं कल्पना रूपी एक नारी आयी जिसे किसी माता ने नहीं, किन्तु केवल जीव रूपी पिता ने पैदा किया है॥ 1॥ उसके न पैर हैं, न सिर है, न प्राणों का अवलंबन है। अर्थात उसका कोई स्वतः स्वरूप नहीं है। वह केवल मन की कल्पना है। परन्तु उसके लपेट में आकर संसार के सारे लोग भ्रम में पड़ गये हैं॥ 2॥ मैं क्या आश्चर्य की बातें कहूं, विद्वान और अविद्वान सब दिन मानो उसी की सत्यता एवं वरीयता प्रमाणित करने में लगे हैं॥ 3॥ यह बड़ा आश्चर्य होता है कि मूढ़ से विद्वान तक सब उसी की वन्दना करते हैं। सब इच्छा एवं कल्पना रूपी माया की शरण में पड़े हैं॥ 4॥

कहो भला, चूहा और बिल्ली एक साथ कैसे रह सकते हैं! चूहे को बिल्ली खायेगी ही। माया की संगत कर जीव का पतन होगा ही। हे सन्तो! एक आश्चर्य देखता हूं कि हस्ती सिंह को खा रहा है। अर्थात माया जीव को पथभ्रष्ट कर रही है॥ 72॥

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी कई बातें रूपकों, प्रतीकों एवं उलटवांसियों में कहते हैं जो बोधगम्य होने के साथ-साथ रोचक, चौंकानेवाली तथा मार्मिक भी होती हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं "नारी एक संसारहि आई। माय न वाके बापहि जाई॥" यहां नारी माया का प्रतीक है तथा बाप जीव का। कबीर साहेब माया की परिभाषा यह नहीं देते कि माया कोई स्वतंत्र शक्ति है और जीव के ऊपर आकर चढ़ बैठती है या यह अघटित घटना पटीयसी है, दुरत्यया या अनिर्वचनीया है। वे कहते हैं माया मन का मोह[1] है। इसी को इच्छा एवं कल्पना भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर मन का विकार ही माया है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार में एक नारी आयी, उसको माता ने नहीं पैदा किया, किन्तु केवल पिता ने पैदा किया। मन की इच्छा-कल्पना माया है और यह केवल जीव रूपी पिता से ही पैदा होती है। सद्गुरु ने दूसरी रमैनी के शुरू में ही कहा है—"जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा॥ इच्छा रूपि नारी अवतरी॥" यहां भी यही बताया गया है कि जीव द्वारा इच्छा रूपी नारी का अवतरण हुआ। अतः सीधा-सपाट अर्थ यह है कि मनुष्य के मन की इच्छा-कल्पना ही माया है।

इच्छा का अर्थ है चाह और कल्पना का अर्थ है चाह की पूर्ति के लिए मन में गढ़े गये विविध आकार। मनुष्य की चाह है सुख; और सुख के साधन में गढ़े गये रूप हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्राणी-पदार्थों का विस्तार और परोक्ष देवी-देवता, ईश्वर-स्वर्गादि।

---

1. बीजक, साखी 90, 94, 104, 105 भी देखिए।

मन में इच्छा उत्पन्न होने पर उसके लिए कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। एक व्यक्ति पहले स्त्री की इच्छा करता है। उसके बाद उसके विषय में नाना कल्पनाएं गढ़ता है। कल्पना के बाद वह स्त्री लाकर उसमें उलझता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष के विषय में करती है। जो स्त्री के मन में पुरुष की कल्पना तथा पुरुष के मन में स्त्री की कल्पना है, उसके मूल में उन्हें नित्य सुख पाने की ही इच्छा है। इसी नित्य सुख को पाने के लिए समझ-भेद से भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र, देवी-देवता, तीर्थ-व्रत, ईश्वर-ब्रह्म आदि की भी कल्पना की जाती है।

मकान, मशीनें, छोटी-बड़ी विकास-योजनाएं आदि के मूल में भी इच्छा तथा कल्पनाएं ही होती हैं। इसके मूल में भी सुख-सुविधाएं पाना होता है। भक्ति, वैराग्य, साधनादि में भी परम सुख प्राप्ति की इच्छा ही होती है। बिना इच्छा एवं कल्पना के कोई विस्तार नहीं हो सकता। जो कल्याण तथा जीवननिर्वाह में सहयोगी हैं, वे इच्छाएं एवं कल्पनाएं तो ठीक हैं, परन्तु जो जीव को भटकाव में डाल दें, वे माया रूप हैं।

अपनी आत्मा से अलग जहां तक परम-सुख, मोक्ष या परमात्मा पाने की इच्छा एवं कल्पना है, सब माया है। यह इच्छा या कल्पना जीव से पैदा होती है। इस कल्पना रूपी नारी के हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, प्राण आदि नहीं होते। अर्थात यह जीव की मन:कल्पित होने से, कोई स्वतन्त्र सत्ता वाली नहीं है। यह मनोराज्य मात्र है। परन्तु इसे देखकर संसार के सारे लोग भभर गये हैं। सब भय तथा भ्रम में पड़ गये हैं। मनुष्य की इच्छा और कल्पना के विस्तार में ही तो भूत-प्रेत, देवी-देवता, तन्त्र-मन्त्र, लोकांतरों में स्वर्ग-नरक और तरह-तरह के ईश्वर-परमात्मा बनाये गये हैं। मनुष्य की कल्पना के विस्तार में ही तो समस्त मान्यताओं का जाल फैला है, जिसमें जीव स्वयं भटक गया है। स्वयं जीव ने कल्पना-नारी खड़ी की और उसमें स्वयं उलझ गया।

आश्चर्य तब होता है जब देखते हैं कि मूर्ख से विद्वान तक सब दिन अपनी कल्पना की सत्यता प्रमाणित करने में लगे हैं। अपने मन की भूलें, आसक्तियां, कल्पनाएं तथा मान्यताएं ही तो माया हैं जो खुद जीव से ही पैदा हुई हैं और जीव उन्हीं में पड़ा बह रहा है। जीव उन्हीं को प्यार दे रहा है। इस क्रिया से जीव माया की ही सत्यता सिद्ध कर रहा है।

"वाहिक बन्दन करे सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥" यह बड़ा आश्चर्य होता है कि केवल मूर्ख नहीं, विद्वान भी उसी माया की वन्दना करने में लगे हैं। मूर्ख-विद्वान मलिन विषयों में, झूठ-छल, चोरी-हत्या तथा नाना दुराचार में लीन हैं। मूर्ख से विद्वान तक भूत-प्रेत, देवी-देवता, तन्त्र-मन्त्र की मान्यता में उलझे हैं, अपने स्वरूप को न समझकर वे बाहर परमात्मा या मोक्ष

खोज रहे हैं। उसके लिए निर्जीव पानी-पत्थर, पेड़-पहाड़ पूज रहे हैं। यह सब उसी माया-नारी की वन्दना, पूजा एवं उपासना है। यह माया-कल्पना-नारी संसार को भटकाने वाली है। लैंगिक दृष्टि से नर तथा नारी-शरीर में जीव तो एक समान हैं। उन सभी जीवों को यह माया-कल्पना-नारी भटकाती है।

"मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।" सद्गुरु कहते हैं कि यदि चूहा बिल्ली के साथ रहकर अपनी सुरक्षा चाहे तो क्या उसकी सुरक्षा हो सकती है? यदि जीव माया के साथ में अपना कल्याण मानता है, तो उसकी भूल है। जीव माया का संग कर, उसमें आसक्त होकर दिनोदिन दुखी होगा। विषयों में एवं नाना जड़ मान्यताओं में डूबकर जीव का कल्याण कहां!

"अचरज एक देखो हो सन्तो, हस्ती सिंहहि खाय॥" सद्गुरु अंत में इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि सिंह हाथी को मार देता है, परन्तु यहां हाथी ही सिंह को मार रहा है। अभिप्राय है कि जीव महान समर्थ है। वह माया को मार सकता है। परन्तु आश्चर्य है कि माया ही जीव को मार रही है।

माया, माया की उत्पत्ति, माया से भटकाव, माया की प्रबलता, मूर्ख से विद्वानों तक की उसके सामने दीनता आदि का चित्रण कितने सुन्दर और सटीक रूपकों एवं प्रतीकों द्वारा यहां किया गया है। कबीर साहेब के चिन्तन में माया कोई दैवी चमत्कार नहीं है। वह कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो जीव के अपने स्वरूप की भूल से पैदा हुई एक कल्पना है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मोह-ममता मनःकल्पना ही तो हैं। देवी-देवता, मन्त्र-तन्त्र मनःकल्पना ही हैं। जीव के अपने चेतन स्वरूप से पृथक ईश्वर या मोक्ष एक मनःकल्पना ही है। यह कल्पना ही वह नारी है जो माया के लिए प्रयुक्त है। यह मनुष्य से ही पैदा हुई है और मनुष्य इसे पैदा कर स्वयं इसमें भभर गया है। स्वयं भयभीत तथा भटक गया है। अपने स्वरूप को न समझकर अपनी ही कल्पना के सामने व्यक्ति घुटने टेक रहा है। वह कितना पढ़ा-लिखा हो, किन्तु यदि अपनी कल्पनाओं की ही पूजा कर रहा है, कल्पना-कर्ता अपने समर्थ चेतन-स्वरूप को नहीं समझ रहा है तो यह उसकी कितनी बड़ी नादानी है! मूर्ख और पंडित अपने ही बनाये जाल से भयभीत हैं।

इस रमैनी की साखी की प्रथम पंक्ति में सद्गुरु ने साधक को सावधान किया है कि तुम विषयासक्ति एवं भ्रांतिवश चूहे के समान दुर्बल बन गये हो, तो देखना, माया-बिल्ली से सावधान रहना। प्रमाद नहीं करना, कुसंग का सेवन नहीं करना। तुम अपने अनादि-कालीन विषयासक्ति, अज्ञान एवं भ्रम की दुर्बलता को ध्यान में रखना। ऐसा न हो कि कुसंग में पड़कर, माया की संगत एवं राग में पड़कर पुनः वही दुर्बलता उदित हो जाये। इसलिए माया के संग से सतत सावधान रहना। उसका त्याग करते रहना।

सद्गुरु ने साखी की निचली पंक्ति में साधक को साहस दिया है कि तुम अपने को सचमुच चूहा मत मान लेना। तुम तो समर्थ सिंह हो। तुम बिल्ली को क्या, हाथी को भी मार सकते हो। आश्चर्य है तुम माया-हाथी से मारे जा रहे हो। जागो, अपने समर्थ चेतन स्वरूप को समझो। तुम्हीं ने अपने बलवान चेतन-स्वरूप को भूलकर माया-कल्पना का सृजन किया है। तुम अपनी सत्ता-महत्ता को समझकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, तो माया समाप्त ! तुम सूर्यवत हो, माया अंधकारवत। सूर्य का अभाव ही अंधकार है। इसी प्रकार स्वरूप की भूल ही माया है। भूल गयी, माया गयी। श्री निर्मल साहेब ने कहा है—

निज स्वरूप को भूल पड़ा जो, माया तुम्हैं प्रतीत भई।
निज स्वरूप पर लक्ष्य गया, तो खोजो माया कहां गई॥

रमैनी-73

चली जात देखी एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी॥ 1॥
चली जात वह बाटहि बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा॥ 2॥
जाड़न मरे सफेदी सौरी। खसम न चीन्हें घरणि भई बौरी॥ 3॥
साँझ सकार दिया लै बारे। खसमहि छाड़ि सँबरे लगवारे॥ 4॥
वाही के रस निस दिन राँची। पिया सो बात कहै नहिं साँची॥ 5॥
सोवत छाँड़ि चली पिय अपना। ई दुख अबधौं कहै केहि सना॥ 6॥
साखी—अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।
की चित जाने आपना, की मेरो जन गाय॥ 73॥

शब्दार्थ—नारी=मनोवृत्ति। पनिहारी=पानी भरने वाली, मनोवृत्ति। बाटा=रास्ता, मार्ग। खाटा=खाट, शय्या, षट विकार। सफेदी सौरी=सफेद सौर, उज्ज्वल चादर या रजाई, अच्छा ओढ़ना। खसम=पति, चेतन। घरणि= घरनी, गृहिणी, पत्नी, मनोवृत्ति। बौरी=पगली। सँबरे=स्मरण करना। लगवारे=लगवार, उपपति, जार, नाना देवी-देवादि। रस=मोह। राँची=आसक्त। पिया=निज आत्मस्वरूप। अपनी जाँघ उघारि के=अपनी बुराई खोलकर।

रूपक—मैंने एक स्त्री को पानी भरने के लिए जाते हुए देखा, तो तमाशा यह था कि घड़ा तो नीचे था, और पनहारिन-स्त्री स्वयं घड़े के ऊपर थी। वह रास्ते-रास्ते जा रही थी और थककर सो गयी, तो देखा कि वह स्वयं नीचे है और खाट उसके ऊपर है। उसने अच्छी रजाई ओढ़ रखी थी, परन्तु ठंडी से कांप रही थी। वह उन्मत्ता स्त्री अपने पति को नहीं पहचान रही थी और पागल बनी इधर-उधर भटक रही थी। वह सांझ-सुबह दीपक जलाकर अपने यार को

खोजती थी और अपने पति को छोड़कर लगवार की ही याद में निरंतर रहती थी। वह दीवानी उसी जार के मोह में रात-दिन लीन रहती थी, अपने पति से कपट रखती थी। उससे अपनी सच्ची बातें नहीं कहती थी। एक दिन तो अति हो गया। वह अपने पति को सोते समय छोड़कर जार के साथ भाग निकली। यह दुख भला अब किससे कहा जाये? अपनी कमजोरियां सब के बीच में खोलकर स्वयं नहीं कही जातीं। उन्हें तो अपना चित्त ही जानता है, या अपने अंतरंग लोगों से कहा जा सकता है।

भावार्थ—स्वरूपबोध से भटकी हुई मानव की मनोवृत्ति एक नारी है, सद्गुरु कहते हैं कि मैंने देखा कि वह नारी अपनी प्यास मिटाने के लिए जा-बेजा भटक रही है। आश्चर्य है कि पानी का घड़ा नीचे है और पानी लाने तथा पीने की इच्छा रखने वाली पनहारिन ऊपर है। स्मरण रहे, पानी के घड़ा के नीचे हाथ करके पानी पीया जा सकता है। मनुष्य की मनोवृत्ति अहंकार में डूबी हुई सत्संग एवं शरीर रूपी घड़े से ऊपर प्रमाद और बाह्य विषयों में भटकती है॥ 1॥ वह मनोवृत्ति रूपी नारी नाना मार्गों में निरन्तर चलती रहती है। जब वह विश्राम भी करती है, तब उसकी विपरीत गति होने के कारण खाट उसके ऊपर रहती है। अर्थात वह मलिन विषयों में सोती है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—षट-विकार रूपी खाट उसके ऊपर सवार रहती है॥ 2॥ वह मानव-शरीर रूपी उत्तम रजाई ओढ़कर भी अज्ञान की ठंडक से प्रभावित होकर ठिठुरती है। यह मनोवृत्ति रूपी अबला ऐसी पगली हो गयी है कि जीव रूपी अपने पति को नहीं पहचानती॥ 3॥ यह जड़ देवी-देवताओं के सामने सुबह-शाम दीपक जलाकर उनकी पूजा करती है। यह अपने चेतन देव रूपी पति को त्यागकर किसी कल्पित लगवार का स्मरण करती है॥ 4॥ यह मानव की व्यभिचारिणी मनोवृत्ति कल्पित लगवार के मोह में ही रात-दिन लीन रहती है। यह अपने आत्मदेव रूपी पति के सामने कभी भी अपने आप को खोलकर नहीं रखती। अर्थात मानव की मनोवृत्ति स्वरूप-उन्मुख न होकर विषय-उन्मुख या कल्पना-उन्मुख ही बनी रहती है॥ 5॥ इस प्रकार अज्ञान की नींद में सोते हुए अपने आत्मदेव-पति को छोड़कर मनोवृत्ति रूपी नारी कल्पित जार के साथ बह जाती है। भला, इस आत्मप्रवंचना के दुख को किससे कहा जाये!॥ 6॥

लोगों के बीच में अपनी जांघ उघारकर अपनी बुराई नहीं कह मिलती। इस दुख को व्यक्ति का अपना चित्त ही जानता है या मेरे संतजन इसकी कसरखोट परखाकर लोगों को सत्पथ पर लाते हैं॥ 73॥

व्याख्या—कबीर साहेब बड़ी प्रगल्भ बुद्धि वाले एवं प्रतिभा के धनी थे। वे रूपक और अलंकार गढ़ने में बड़े कुशल थे। यहां उन्मादिनी और

व्यभिचारिणी नारी के रूपक में साधारण मानव की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर तथा सटीक चित्रण है, सोचते ही बनता है। जगह-जगह उनकी उलटवांसी तो रहती ही है। वे कहते हैं "चली जात देखी एक नारी" एक नारी को मैंने चले जाते हुए देखा। यह मनुष्य की मलिन मनोवृत्ति निरंतर भटकती है। वह सुख-शांति की प्यासी है, परन्तु उसे वह बाहर खोजती है।

"तर गागरि ऊपर पनिहारी" संसार में देखा जाता है कि पनहारिन पानी का घड़ा अपने सिर पर रखकर चलती है। परन्तु यहां उलटा है। घड़ा नीचे है और पनहारिन ऊपर है। अर्थात शरीर रूपी घड़ा पृथ्वी पर पड़ा है और मनोवृत्ति रूपी पनहारिन आकाश में दौड़ती है।

अथवा कोई व्यक्ति पानी तभी पी सकता है, जब पानी पिलाने वाले के पात्र के नीचे अपने हाथ रखे। यदि पानी पीने की इच्छा वाला पानी के घड़े के ऊपर हो, तो वह पानी कैसे पी सकता है? प्रायः लोगों की मनोवृत्ति इसी तरह है। सत्संग ज्ञान-जल का घड़ा है। उससे ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब विनय-भाव एवं सेवा-भाव हो। जो अहंकारी होकर रहेगा, वह कहीं से कुछ भी नहीं सीख सकता। कितने लोग सत्संग में जाकर भी अपनी मनोवृत्ति की अकड़बाजी नहीं छोड़ पाते। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।"[1] जहां ग्रहण करने की बुद्धि होती है, वहां अहंकार नहीं होता और जहां अहंकार होता है, वहां ग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती। "नन्हा होय के पीव"[2] बच्चा बनकर मां का दूध पीया जाता है, जवान बनकर नहीं। अतएव यह मनुष्य की अहंकारी मनोवृत्ति "तर गागरि ऊपर पनिहारी" वचन को चरितार्थ करती है।

"चली जात वह बाटहि बाटा" भटकी हुई मनोवृत्ति निरंतर चलती है। विषयों के अनेक रास्ते हैं, धार्मिक भ्रांतियों के भी अनेक रास्ते हैं। खानी-वाणी के इन्हीं विविध पथों में मनुष्यों की मनोवृत्ति निरंतर भटकती रहती है। जब तक पारखी सद्गुरु नहीं मिलते, तब तक सारी भ्रांतियां नहीं कटतीं।

"सोवनहार के ऊपर खाटा" कोई व्यक्ति खाट ऊपर छोड़कर नीचे सो रहा हो, यह आश्चर्यजनक ही होगा, और उस सोने वाले की बुद्धि भी हास्यास्पद होगी। मनुष्य की भटकी हुई मनोवृत्ति की यही दशा है। वह अज्ञान की प्रगाढ़ नींद में सोयी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर—यह षट विकार ही खाट है जो जीव के ऊपर चढ़ी है। मनोवृत्ति वासना की ग्रन्थि में उलझी हो, वासना से दबी हो तो कहां सुख की नींद आ सकती है? सारी बाह्य संपन्नता

---

1. बीजक, साखी 289।
2. साखी ग्रन्थ।

होने पर भी यदि मनुष्य वासनाओं से दबा है, उसकी ग्रन्थि में उलझा है, तो सुखी नहीं हो सकता।

पानी का घड़ा ऊपर चाहिए और प्यासे के हाथ नीचे तथा शय्या नीचे चाहिए और सोने वाला ऊपर। सद्गुरु कहते हैं ये दोनों ही उलट गये हैं। प्यासा अपने हाथ घड़े के ऊपर रखे हुए है तथा सोने वाला शय्या के नीचे पड़ा हुआ है। आदमी अहंकारी तथा विषयी होने से न उसे ज्ञान मिलता है न शांति।

"जाड़न मरे सफेदी सौरी" आदमी अच्छी रजाई ओढ़कर भी ठंडी से मर रहा है। मूलतः इतना विवेकसंपन्न उत्तम मानव-शरीर पाकर भी जीव की मनोवृत्ति अज्ञान की ठंडी से पीड़ित है। मनुष्य का मन हर समय कांप रहा है। वह सोचता है कि व्यापार में घाटा न हो जाये, वह बन्द न हो जाये। नौकरी छूट न जाये। खेती नष्ट न हो जाये। परिवार के लोग विमुख न हो जायें। मेरे शरीर में रोग न लग जाये। मौत न आ जाये। और पता नहीं किन-किन भावनाओं की कंपकंपी लगी रहती है। मनुष्य हर समय कांपता रहता है। उसे अज्ञान की ठंडी हर समय पीड़ित कर रही है। किसी के घर में हीरे-जवाहरात भरे हों, परन्तु वह उन्हें भुनाकर जीवन-धारणोपयोगी वस्तुएं नहीं लेता और जीवन में उनका उपयोग नहीं करता, तो हीरे-मोती क्या करेंगे ! इसी प्रकार जो मानव-जीवन पाकर इसमें विवेक नहीं जगाता, तो उसका अज्ञान कैसे दूर होगा !

"खसम न चीन्हें घरणि भई बौरी" घर की मालकिन पगला गयी। वह अपने पति को पहचानती ही नहीं है। मनुष्य की मनोवृत्ति मनुष्य के सार स्वरूप चेतन देव को नहीं पहचानती। मनुष्य की मनोवृत्ति इस तरह भटक गयी है कि वह कल्पना करके तो नाना पति खड़ा कर लेती है; परन्तु जो उसका असली पति आत्मदेव है, उसे नहीं पहचानती। मनोवृत्ति का स्वामी जीव ही है, किन्तु उसका उसे परिचय नहीं है। वह बाहर नाना स्वामी की कल्पना करती है।

"साँझ सकार दिया लै बारे। खसमहि छाड़ि सँबरे लगवारे॥" आप अपने आस-पास देखते होंगे कि लोग सुबह-शाम बेजान देवताओं के पास दीपक जलाते हैं। वे उन्हें अपना रक्षक तथा स्वामी मानते हैं। जो अपने ऊपर बैठी हुई मक्खियों को नहीं उड़ा सकते, अपने आप को चोरी से नहीं बचा सकते, वे अपने पूजने वालों की क्या रक्षा करेंगे ! क्या आदमी पत्थर से भी गया बीता है? यह आदमी की मनोवृत्ति का ही भटकाव है कि वह अपने चेतनात्मा पति को छोड़कर जड़ या कल्पित देवताओं को अपना लगवार बनाती है और उसी का निरंतर स्मरण करती है। स्वरूप-विस्मरण तथा पर-स्मरण ही मनोवृत्ति का व्यभिचार है।

"वाही के रस निस दिन राँची।" प्रायः मनुष्यों की ऐसी ही मनोवृत्ति बन गयी है कि वह किसी देव-पुरुष की कल्पना करती है। उसका कोई मानसिक रूप गढ़ती है। फिर उसकी पत्थर या धातुओं पर आकृति देती है या केवल मनोमय रूप ही रखती है। उसी के रस में रात-दिन लीन रहती है। जो कभी नहीं खाते, ऐसे भगवान को खिलाने, पिलाने, सुलाने, जगाने में या विनय-प्रार्थना में उसके समय बीतते हैं।

"पिया सो बात कहै नहिं साँची॥" मनुष्य की मनोवृत्ति जितना जड़ देवी-देवताओं तथा मनःकल्पित अवधारणाओं में रस लेती है, उतना अपने आत्मदेव के सामने नहीं खुलती। यही उसकी अविद्या है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारी मनोवृत्ति बाहर जितना लगेगी, उतना भटकेगी। स्वस्वरूप चेतन को छोड़कर तो सब विजाति है। मनुष्य का कल्याण तभी होता है जब उसकी मनोवृत्ति बाहर से सिमिटकर अपने चेतन देव के सामने खुल जाती है। अर्थात जब वह स्वरूपबोध तथा स्वरूपस्थिति में रम जाती है। परन्तु दुर्भाग्य यह कि वह आत्माभिमुख न होकर कल्पनाभिमुख एवं विषयाभिमुख रहती है।

"सोवत छाड़ि चली पिय अपना।" अपने स्वरूप को न समझकर जड़-भास-अध्यास एवं मोह में पड़े रहना जीव का सोना है। स्वरूप का अज्ञान ही नींद है। स्वरूपज्ञान न होने से ही तो मनोवृत्ति बाहर भटकती है। जीव-पति अज्ञान में सोता है, इसलिए मनोवृत्ति उसे छोड़कर विषयों तथा कल्पित अवधारणाओं में बहती है। "ई दुख अबधौं कहै केहि सना॥" यह मन के विचलन का दुख किससे कहा जाये ! कहकर क्या होगा !

"अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।" यह बड़ी मार्मिक कहावत है। अपनी भटकी हुई मनोवृत्ति की दशा दूसरों के सामने कहना मुश्किल है। तुम अकेले में बैठ जाओ और तुम्हारे मन में जो कुछ उठता रहे, वह सब एक कागज पर लिखते जाओ। ऐसा केवल एक घंटा करो। उसके बाद उठ जाओ। तो क्या तुम उस कागज को लोगों को दिखा सकोगे? एक घंटे के अकेलेपन में तुम्हारी मनोवृत्ति ने पता नहीं कौन-कौन-सी पागलपन की बातें तुम्हारे सामने लायी हो। अपनी पत्नी के दुराचार को दूसरे से कैसे कहा जाये ! इसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति के भटकाव का परदाफाश कैसे किया जा सकता है ! यह जीव मनोवृत्ति का पति है, परन्तु जीव की कमजोरी के कारण उसकी मनोवृत्ति भटकती रहती है। इस भटकती हुई मनोवृत्ति की दुर्दशा का दुख व्यक्ति का अपना चित्त ही जानता है "की चित जाने आपना"।

"की मेरो जन गाय" या तो मेरे संतजन इस मनोवृत्ति की कसर-खोट का परदाफाश कर इसका सुधार करते हैं। साधक वह है जो अपने मन की

कमजोरियों को देखता है। यदि उनसे छूटने का रास्ता वह स्वयं नहीं पाता, तो विशेषज्ञ तथा साधनासंपन्न संतों के पास अपनी मनोवृत्ति की सारी बातों को रखकर उनसे मुक्ति पाने की युक्ति पूछता है।

सद्गुरु कहते हैं कि 'मेरो जन' अर्थात मेरे संतजन इस चपला मनोवृत्ति की एक-एक कुचाल का बारीकी से ज्ञान रखते हैं और उनका साधकों में वर्णन कर उन्हें उनसे सावधान करते हैं।

इस प्रकार इस रमैनी में सद्गुरु ने पति-विमुखा पतिता नारी से साधारण मनुष्य की मनोवृत्ति की तुलनाकर एक मनोरंजक दृश्य खींचा है, जो उपदेशप्रद, मार्मिक तथा उद्बोधक है। पूरी रमैनी का सरल भाव यही है कि मानव की मनोवृत्ति भटकी हुई तथा सुख-शांति की प्यासी है, परन्तु वह अविद्यावश कल्पना-विलासिनी, अहंकारिणी एवं विषयलीन है। वह विवेकसंपन्न उत्तम मानवजीवन का सदुपयोग नहीं कर रही है। वह आध्यात्मिक बोध से भटकी हुई निरंतर कल्पना तथा विषयों में बहती है। यह सब जीव के लिए अत्यंत दुखप्रद एवं लज्जायुक्त है। संतजन इन सबका भेद बताकर जीव को इनसे मुक्त होने का रास्ता दिखाते हैं।

मानव की एकता मौलिक है, भेदभाव भ्रमजन्य है

रमैनी-74

तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया। न ताके सोग ताकि पै माया॥ 1॥
कँवल पत्र तरंग एक माहीं। संगहिं रहै लिप्त पै नाहीं॥ 2॥
आस ओस अण्ड मा रहई। अगणित अण्ड न कोई कहई॥ 3॥
निराधार आधार ले जानी। राम नाम ले उचरी बानी॥ 4॥
धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई॥ 5॥
ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करैं अचारा॥ 6॥
फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई॥ 7॥
साखी—भरम का बाँधा यह जग, कोई न करै विचार।
एक हरि की भक्ति जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥ 74॥

शब्दार्थ—तहिया=गर्भावस्था के प्रारम्भ काल में। ताके=जीव के। पै=परन्तु। माया=वासना। आस=वासना। ओस=शीत, माता का रज। अण्ड=पिता का वीर्य। निराधार=जीव का मूल स्वरूप शुद्ध चेतन। उचरी=उच्चारण करना, कहना। धर्म=हिन्दू धर्मशास्त्र। पानी=जल। ढोर=पशु। पतंग=पक्षी, शलभ, टिड्डी। घरियारा=घड़ियाल। फन्द=बंधन। जोहै=देखना।

भावार्थ—माता के गर्भ में जीव प्रवेश कर गुप्तरूप से उपस्थित होता है। गर्भाधान-काल में स्थूल-काया नहीं रहती। जीव उस समय शोक-चिंता से रहित रहता है, क्योंकि उसके साथ साधन-इंद्रियां नहीं रहतीं। परन्तु उसके साथ वासना रूपी माया अवश्य रहती है॥ 1॥ गर्भाधान-काल में जीव माया के साथ रहते हुए भी उससे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार जल-तरंगों के साथ रहते हुए कमल-पत्र उससे निर्लिप्त रहते हैं॥ 2॥ उस समय जीव वासनाओं के साथ माता-पिता के सम्मिलित रज-वीर्य में निवास करता है। रज-वीर्य के मूल रूप को कोई अगणित प्रकार का नहीं कहता॥ 3॥ गर्भ के परिपक्व होने पर बच्चा पैदा होता है। इसके बाद हम निराधार चेतन-आत्मा को देह के आधार पर जानते हैं। हम अपनी वाणी में उसे 'राम' नाम से भी कहते हैं॥ 4॥ हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सारा धर्म पानी से ही सम्बन्ध रखता है। अर्थात अमुक-अमुक के हाथों का छुआ पानी पीना तथा अमुक-अमुक के हाथों का छुआ पानी न पीना ही धर्म है। सभी जातियों के मन में पानी की छूत-अछूत का भ्रम लगा है॥ 5॥ परन्तु गंगादि नदियों के पानी में तो पशु, पतंग, घड़ियाल आदि मरकर सड़ते हैं, और उसी पानी को लेकर बड़े-बड़े पंडित पवित्राचार करते हैं और तथाकथित दूसरी जातियों के हाथों के पानी को नहीं पीते॥ 6॥ इस भ्रमजन्य छुआछूत के बंधन को तोड़कर जो इससे अलग हो जाता है, वह फिर ऐसे रास्ते में नहीं जाता जहां मनुष्य-मनुष्य के बीच में मिथ्या जाति को लेकर भेदभाव माना जाये॥ 7॥

यह सारा संसार भ्रम के बंधनों में बंधा है। कोई इस पर विचार नहीं करता। हरि की भक्ति क्या है, इस एक बात को न समझकर लोग संसार-सागर में डूब रहे हैं और कहते हैं कि यह भेदभाव सब प्रभु की देन है और जो इसे नहीं स्वीकारता, वह हरि-भक्ति से विमुख है॥ 74॥

व्याख्या—सद्गुरु इस रमैनी में सभी जीवों के मौलिक चेतन स्वरूप की समान शुद्धता तथा गर्भवास में सबके शरीर की एक ही प्रकार के रज-वीर्य से समान रचना बताकर सबकी मौलिक एकता बताते हैं और मानव-मानव के बीच में काल्पनिक जातियों के आधार पर बने हुए भेदभाव तथा छुआछूत का निराकरण करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया" जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है, उस समय वह गुप्त रहता है। क्योंकि वहां उसकी स्थूल काया निर्मित हुई नहीं रहती। विद्वानों का विचार है कि जीव नर के वीर्य में मिलकर नर-नारी के संयोग-काल में नारी के गर्भाशय में पहुंचता है। वहां बुंद से क्रमशः पिंड बनता है। जीव गर्भावस्था में प्रायः सुषुप्त की तरह रहता है।

"न ताके सोग ताकि पै माया" वहां जीव को कोई शोक-मोह नहीं रहता, परन्तु उसके साथ माया रहती है। माया है वासना। यही तो आगे चलकर शोक-मोह का कारण बनती है। वह माया के साथ रहते हुए भी वहां उससे कैसे निर्लिप्त रहता है, इसके लिए जल में कमल-पत्रवत का उदाहरण बहुत सटीक दिया गया है। यह सब कहकर साहेब दर्शाते हैं कि सभी जीव गर्भावस्था में देह धारण करने के पूर्व एक समान शोक से रहित होते हैं। सभी जीवों का स्वरूप एक समान शुद्ध है। परन्तु कर्म के चक्कर में पड़े हुए सभी जीव माया में समान रूप से बंधे हैं। वे आगे बताते हैं—

"आस ओस अण्ड मा रहई। अगणित अण्ड न कोई कहई॥" 'आस' वासना है, 'अण्ड' कहते हैं वीर्य को। हम 'ओस' का अर्थ प्रकरणानुसार रज ले सकते हैं। तात्पर्य हुआ कि जीव वासना के युक्त उस समय माता-पिता के रज-वीर्य में रहता है। हम रज-वीर्य के मूलतत्त्व को अनेक प्रकार नहीं कह सकते। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा।" क्या हिन्दू नर-नारी के भिन्न प्रकार के रज-वीर्य होते हैं और मुसलमान नर-नारी के भिन्न प्रकार, या तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र नर-नारी के भिन्न प्रकार? वस्तुतः कल्पित वर्ण, जाति और मजहब के अनुसार नर-नारियों के रज-वीर्य में कोई अन्तर नहीं होता। यदि नर-नारी के रज-वीर्य में कोई अन्तर होता होगा, तो वह केवल उनकी शारीरिक प्रकृति के कारण, जिसमें कल्पित वर्ण-जाति से कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव ब्राह्मण, भंगी, मुसलमानादि सबके रज-वीर्य समान ही होते हैं। रज-वीर्य गंदी चीजें हैं। उन्हीं से सबका शरीर बनता है, और सब एक ही दरवाजे से पैदा होते हैं।

"निराधार आधार लै जानी। राम नाम ले उचरी बानी॥" चेतन स्वतः स्वतन्त्र होने से निराधार है और अदृश्य भी है। जब वह देह धारणकर प्रकट होता है तब हम देह के आधार से उसको जानते हैं।

मैं चेतन हूं, यह मुझे अनुभव है। जब मैं देखता हूं कि एक दूसरा देहधारी सामने खड़ा है और वह भी मेरी तरह चेतना व्यक्त करता है, तब मैं उसकी देह के आधार में ही उस निराधार चेतन का अनुमान करता हूं जो उसमें अपनी चेतना प्रकट कर रहा है। सार कथन है "निराधार आधार लै जानी" हम निराधार को आधार लेकर ही जानते हैं। "राम नाम ले उचरी बानी।" अर्थात हम इसी चेतन को 'राम' नाम से भी कहते हैं।

इस प्रकार प्रथम चार चौपाइयों में सद्गुरु बताते हैं कि मानव मात्र के शरीर एक समान गंदे रज-वीर्य से बनते हैं और सबके शरीर में एक समान स्वरूपतः निर्मल जीव निवास करते हैं जिन्हें हम राम भी कहते हैं। फिर इनमें मूलतः कौन छोटा तथा कौन बड़ा है? कौन छूत है तथा कौन अछूत है?

"धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई॥" हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सारा धर्म पानी में है। अर्थात किस वर्ण एवं जाति के हाथ का पानी पीना चाहिए और किस वर्ण और जाति के हाथ का नहीं पीना चाहिए—इसका विचार करना सबसे बड़ा हिन्दू-धर्म है। पानी का शाब्दिक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। यहां 'पानी' शब्द में समस्त खान-पान की व्यंजना है। वैसे जब मनुष्य परस्पर मिलते हैं, तब प्रथम पानी का ही आदान-प्रदान करते हैं। इसलिए हिन्दुओं में प्रथम मिलन में यही बात होती है कि भाई, किसका पानी चलता है और किसका नहीं चलता है!

सद्गुरु कहते हैं "जाती के मन पानी अहई" अर्थात जितने जातिवादी विचार वाले हैं, सबके मन में पानी का 'भ्रम' समाया हुआ है। सवर्णों में कुम्हार-धोबी आदि का पानी नहीं चलता, तो कुम्हार-धोबी आदि में चमारों का पानी नहीं चलता, तो चमारों में मेहतरों का पानी नहीं चलता। केवल ब्राह्मणों को दोष देना बेकार है। सद्गुरु कहते हैं "जाती के मन पानी अहई" सभी जातिवादी भावनावालों में पानी का भ्रम अर्थात छुआछूत का भ्रम समाया है। केवल ब्राह्मण नहीं, भारत में इस विषय में सब उनचास हाथ हैं। भारत में सबसे बड़ा सनातन धर्म है कि हम अमुक-अमुक जाति वालों के हाथों का छुआ पानी नहीं पीते।

"ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करैं अचारा॥" सद्गुरु कहते हैं कि जिस पानी को लेकर इतना पाखंड चलता है, पहले उसकी दशा तो देखो। गंगादि नदियों का जल बड़ा पवित्र माना जाता है। परन्तु इन नदियों में मेढक, मछली, कछुआ, घड़ियाल तथा अनेक जलचर जीव निवास करते हैं, उसी में प्रजनन करते हैं, उसी में टट्टी-पेशाब करते हैं, उसी में अपने मुख का पानी उगलते हैं और मर जाने पर सड़-गलकर उसी में मिल जाते हैं। बाहर से मनुष्यों एवं पशुओं की लाशें उसमें फेंकी जाती हैं जो सड़कर उसी में मिलती हैं। संसार भर के नदी, नाले तथा नारकीय नालियां एवं कूड़े-कचड़े तो आकर उसमें मिलते ही हैं। कुएं की भी दशा बड़ी अच्छी नहीं है। उसमें भी जल-जन्तु रहते ही हैं और आखिर उनके भी जन्म, जीवन तथा मरण उसी में होते हैं। आजकल बोरिंगों-नलों में चाम के वायसर लगे ही रहते हैं, जिनसे छनकर पानी आता है। इतने सारे दोष हम सह सकते हैं। कहते हैं प्रकाश तथा वायु पानी को शुद्ध करते रहते हैं। चलो, यह भी बात ठीक है। परन्तु एक साफ-सुथरा आदमी हाथ और पात्र शुद्ध मांज-धोकर तथा स्वच्छ जल कपड़े से छानकर हमें दे दे, तो उसके पीने में क्या हर्ज है? भले ही वह ऐसे घर में पैदा हुआ हो जिसे हम मेहतर, चमार या और कुछ कहते हैं। हम पानी की उक्त सभी

गंदगियों को सह लें और किसी मनुष्य के स्वच्छ हाथ से छू लेने मात्र से उसे न सह सकें, तो इससे ज्यादा अनाड़ीपन क्या होगा ! सद्गुरु व्यंग्य करते हैं कि पशु, पतंग, घड़ियाल आदि जिसमें सड़ते हैं, उस गंगा जल को लेकर धार्मिक लोग अपना पवित्राचार करते हैं और पवित्र मनुष्य द्वारा छू जाने के डर से उससे दूर भागते हैं।

"फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई॥" मनुष्यों को जन्मजात ऊंच-नीच मानना, उनमें छुआछूत मानना—यह सब मिथ्या अहंकार का एक जाल है। इस जाल को तोड़कर जो इससे निकल जाता है, वह इस रास्ते की तरफ कभी नजर उठाकर देखता भी नहीं।

आज केवल ब्राह्मणवाद नहीं है, किन्तु क्षत्रियवाद, गुप्तावाद, कायस्थवाद, कुर्मीवाद, मुरावबाद, यादववाद, जाटवाद, साहूवाद, नाम कितने गिनाये जायें। हिन्दूवाद, मुसलिमवाद, सिखवाद, ईसाईवाद तो हैं ही और भी बहुत वाद हैं। एक वाद के भीतर कई वाद हैं जैसे मुसलिमवाद के भीतर शियावाद तथा सुन्नीवाद। वर्णवाद, वर्गवाद, जातिवाद तथा संप्रदायवाद को लेकर पहले भी वैमनस्य थे। आज इन्हें दूसरी तरह उभाड़कर समाज को तोड़ने का प्रयास किया जा रहा है। यहां तक कि जातिवाद और छुआछूत को गाली देने वाले दूसरी तरह जातिवाद और छुआछूत जगा रहे हैं। शुद्ध मानव बनने के लिए कबीर बनना पड़ेगा जिसने अपना घर जलाकर दूसरे से भी कहा था कि यदि मेरे साथ चलना है तो अपना घर जलाकर आओ। सब तरफ से निष्पक्षता आये बिना न व्यक्ति का कल्याण है न समाज और देश का।

"भरम का बाँधा यह जग, कोई न करे विचार।" सद्गुरु कहते हैं कि संसार के सारे लोग तो भ्रम में बंधे हैं। भ्रम तभी टूट सकता है जब लोग विचार करें। परन्तु विचार करने के लिए कोई तैयार नहीं। यदि आदमी स्वच्छ है और स्वच्छता से पानी लाया है, तो उसके पीने में क्या हर्ज है, यह विचार लोग नहीं करते। भ्रम यह है कि पानी लाने वाला अमुक जाति का आदमी है। अरे भले आदमी ! मानव जाति तो एक ही होती है। शुद्धता देखो, झूठी जाति के भ्रम में क्यों पड़ते हो !

सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों, प्रतिष्ठानों एवं संस्थानों में भी जो अधिकारी बैठे हैं वे यदि वर्मा हैं तो वर्मा को भरती करना चाहते हैं, शर्मा हैं तो शर्मा को, यादव हैं तो यादव को। इसी प्रकार इसको बढ़ाकर आप एक-दो पृष्ठ लिखकर स्वयं समझ लीजिए। क्या यह सब भ्रम नहीं है। मनुष्य में विचार कब उदय होगा ! क्या इन प्यारे मनुष्यों को देखकर बोध नहीं हो जाता है कि ये सब हमारे भाई हैं ! हे मानव ! विचार कर, भ्रम में बंधा मत रह !

"एक हरि की भक्ति जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥" कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग कहते हैं कि हरि एवं प्रभु ने ही वर्ण-व्यवस्था बना दी है। उसने स्वयं ऊंच-नीच बना दिये हैं। जो प्रभु की आज्ञा नहीं मानता, वह हरि-द्रोही है। यदि शूद्र स्वयं अपने आप को नीच तथा भ्रष्ट-ब्राह्मण को भी ऊंच नहीं मानता, तो वह हरि-द्रोही है। हरि-भक्ति तथा प्रभु-वचन का आड़ा देकर कैसी-कैसी जालसाजियां रची गयी हैं! कुछ मनुष्यों का मन अहंकारी तथा कुछ मनुष्यों का मन हीनग्रंथि-ग्रसित बनाने का कुचक्र यदि हरि-भक्ति है, तो हरि-द्रोह क्या है?

मनुष्य से अलग हरि कहां है, जिसने अपनी कुछ आज्ञाएं दी हों। सारे ग्रंथ, सारे नियम एवं विधान मनुष्य के बनाये हैं। अतः जो मानव के कल्याण के लिए ठीक हों उन्हें मानना उचित है और जो मानवता-विरोधी हों उन्हें तृणवत त्याग देना चाहिए, चाहे वे किसी के भी कहे हों और किसी भी ग्रन्थ में लिखा हो। मानव की सेवा ही हरि-भक्ति है। मानव में ऊंच-नीच भावना का विष फैलाकर और निराधार छुआछूत का पाखंड रचकर मानव के साथ दुर्व्यवहार करना हरि-द्रोह है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग हरि-भक्ति नहीं समझते, किन्तु हरि-भक्ति के नाम पर हरि-द्रोह कर रहे हैं।

मोक्ष के आदर्श बोधवान संत हैं, संसारी अवतार नामधारी नहीं

रमैनी-75

तेहि साहेब के लागहु साथा। दुइ दुख मेटि के होहु सनाथा॥ 1॥
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया॥ 2॥
नहिं देवकी के गर्भहि आया। नहीं यशोदा गोद खेलाया॥ 3॥
पृथ्वी रवन धवन नहिं करिया। पैठि पताल नहीं बलि छलिया॥ 4॥
नहिं बलिराजा सो माँड़ल रारी। नहिं हरणाकुश बधल पछारी॥ 5॥
बराह रूप धरणी नहिं धरिया। क्षत्री मारि निक्षत्री नहिं करिया॥ 6॥
नहिं गोबर्धन कर गहि धरिया। नहिं ग्वालन संग बन बन फिरिया॥ 7॥
गण्डुकी शालिग्राम नहिं कूला। मच्छ कच्छ होय नहिं जल डोला॥ 8॥
द्वारावती शरीर नहिं छाड़ा। ले जगन्नाथ पिंड नहिं गाड़ा॥ 9॥

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, वै पन्थे मति भूल।
जेहि राखेउ अनुमान कै, सो थूल नहीं अस्थूल॥ 75॥

शब्दार्थ—साहेब=स्वामी। साथा=संगत। दुइ दुख=खानी-वाणी, स्थूल-सूक्ष्म, जन्म-मरण। सनाथा=कृतार्थ। राव=राजा रावण। रवन=रमण। धवन=दौड़-धूप, युद्ध। कूला=तट। मच्छ=मत्स्यावतार। कच्छ=कच्छपावतार। द्वारावती=द्वारका। थूल=स्थूल। अस्थूल=सूक्ष्म।

भावार्थ—उस स्वामी की संगत करो जो राग-द्वेष से रहित पूर्णकाम है। उसकी उपासना तथा सेवा कर स्वरूपज्ञान प्राप्त करो और विषयों की वासनाओं तथा मन की नाना अवधारणाओं से मुक्त होकर तथा स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ होकर कृतार्थ हो जाओ॥ 1॥ जिसकी संगत, सेवा तथा उपासना से तुम्हारा कल्याण होना है उसने न दशरथ-कुल में अवतार लिया है और न लंका के राजा रावण की हत्या की है॥ 2॥ न वह देवकी के गर्भ में आया है और न उसे यशोदा ने अपनी गोद में खेलाया है॥ 3॥ न वह पृथ्वी पर रमण-रास आदि किया है, न युद्ध किया है और न पाताल में घुसकर राजा बलि को छला है॥ 4॥ न उसने राजा वाली से द्वेष कर उसको छिपकर मारा है और न उसने हिरण्यकश्यपु की ही हत्या की है॥ 5॥ न उसने शूकर रूप बनकर पृथ्वी को अपने मुख में धारण किया है और न परशुराम बन इक्कीस बार क्षत्रियों को मारकर पृथ्वी को क्षत्रियहीन बनाया है॥ 6॥ उसने अपने हाथों पर न गोवर्धन पर्वत धारण किया और न वह ग्वाल-बालों के साथ वन-वन में घूमा है॥ 7॥ न वह शापित होकर गंडकी नदी में शालग्राम पत्थर बनकर लुढ़कता रहा, और न मछली तथा कछुआ बनकर जल में डोलता रहा॥ 8॥ न उसने द्वारका में शरीर छोड़ा और न उसके शरीर को जगन्नाथ में गाड़ा गया॥ 9॥

कबीर साहेब खुलासा कर सकते हैं कि उक्त पंथों में कोई मत भूलो। अनुमान करके जिसको तुमने ईश्वर का रूप गढ़ा है, वह न स्थूल है और न सूक्ष्म॥ 75॥

व्याख्या—जीव दुखों से पीड़ित हैं। दुख दो हैं, जिन्हें हम स्थूल रूप में जन्म और मरण कहते हैं। परन्तु इनके मूल सरल बोधगम्य दो दुख हैं खानी और वाणी के अध्यास। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोला में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" खानी-जाल है स्थूल प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह तथा पांच-विषयों की आसक्ति और वाणी-जाल है अपने कल्याण और शांति को कल्पित परोक्ष देव, ईश्वर आदि में खोजना। कुल मिलाकर अर्थ हुआ कि चिरस्थायी सुख को विषय-भोगों में या अपनी आत्मा से अलग मनःकल्पनाओं के ईश्वर में खोजना, ये दो दुख हैं। स्थूल बुद्धि वाले स्थूल इन्द्रियों के भोगों में सुख खोजते और दुख भोगते हुए जीवन बिता रहे हैं। जो जितना विषय-लंपट होता है, वह उतना ही तृष्णावश रात-दिन मानसिक तापों में जलता है तथा रोगी बनकर शारीरिक तापों में भी जलता है। और जो भ्रमवश यह मानता है कि परमात्मा या मोक्ष मुझसे अलग है, वह उसको पाने के लिए शून्य में हाथ-पैर मारते-मारते जीवन खोता है, और मानसिक तापों में जलता है कि अभी परमात्मा नहीं मिला।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे स्वामी की संगत करो जो विवेक-वैराग्य-संपन्न हों। जो घट ही में राम लखाकर अपने स्वरूप का बोध करा दे और सारी भ्रांतियों से छुड़ा दे, ऐसे स्वामी हैं पूर्णकाम सद्गुरु। उनके स्वरूपबोध और उच्च रहनी के प्रभाव से जब तुम्हें भी अपने स्वरूप का बोध हो जायेगा और सारी भ्रांतियों और विषयासक्तियों से निवृत्त होकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे, तब तुम सनाथ, स्वयं स्वामी, स्वयं परमात्मा हो जाओगे। स्वरूप को पहचानकर तथा सारी दुर्बलताओं को छोड़कर यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है।

यहां प्रसंग उपासना का है "तेहि साहेब के लागहु साथा।" ऐसे स्वामी की उपासना करो, जिससे तुम सारे दुखों से मुक्त होकर स्वयं कृतकृत्य एवं पूर्णकाम हो जाओ। आग की उपासना करने से गरमी मिलती है, पानी की उपासना करने से ठंडी। विषयी लोगों की उपासना करने से अर्थात संग-साथ एवं उनसे प्रेम करने से मन में विषय-विकार बढ़ते हैं और वैराग्यवान-बोधवान संतों की उपासना करने से मन निर्मल होकर चिरंतन शांति मिलती है। इसलिए प्रथम उपासनीय बोध-वैराग्य-संपन्न संत-गुरु हैं और अंततः तो अपना स्वरूप ही उपासनीय है। शुद्ध चेतन जिसे हम राम या आत्मा आदि भी कहते हैं, वह हमारा स्वरूप है। देहाभिमान छोड़कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित होना ही जीवन का लक्ष्य है।

इधर पौराणिक काल में राम, कृष्ण, परशुराम, नृसिंह, वराह, मत्स्य, कच्छप आदि की कल्पना अवतारों के रूप में हुई, जो अवैदिक तो है ही, अवैज्ञानिक भी है। सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कहा जाने वाला ईश्वर मनुष्य, पशु, मछली, कछुआ, सुअर आदि बनकर जीवनभर रोता-धोता रहे, स्त्रियों के साथ रंग-रास एवं शत्रुओं के साथ युद्ध करता रहे और जीवन भर लोगों को मारता-काटता रहे, फिर लोक के लिए कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न देकर अपना नाटक दुखांत रूप में समाप्त करे, यह कैसा तमाशा है !

माने गये अवतारों में राम तथा कृष्ण ही पूजे जाते हैं। शेष परशुराम, मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आज पर्यन्त पूज्य नहीं बन सके। परशुराम के कोई अच्छे आदर्श नहीं दिखते, इसलिए उनका पूज्य बनना संभव न हुआ। मत्स्य, कच्छपादि तो निरे कल्पित ही हैं। फिर पशु, कृमि आदि से तो मनुष्य स्वयं श्रेष्ठ है। राम और कृष्ण राजपुरुष एवं राजनेता हैं और गृहस्थ हैं। इनके कई आदर्श अच्छे हैं और कई अच्छे नहीं हैं। पीछे भक्ति के नाम पर विषय-भोगों का छककर उपभोग करने की इच्छा रखने वाले अंध भक्तों ने हरिवंश, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहितादि में श्री कृष्ण के चरित में तथा काकभुशुंडि

रामायण, कौशल खंड, हनुमतसंहितादि में श्री राम के चरित में रंग-रास भरकर दोनों महापुरुषों की कथाओं के आदर्श को अत्यन्त खराब कर डाला है। पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्री कृष्ण एवं श्री राम की प्राचीनतम मूल कथाओं में न उनके अवतार होने का उल्लेख था न रंग-रास करने का। वे अपनी प्राचीन कथा के अनुसार मनुष्य थे, राजनेता एवं शूरवीर थे। उनके कई आदर्श अच्छे हैं। वे हमारे पूर्वज एवं राष्ट्रीय पुरुष होने से श्रद्धेय हैं।

श्री राम का माता-पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष के लिए कठोर जीवन स्वीकारना, जीवनभर एक पत्नीव्रती रहना, भाई के लिए राज्य त्याग देना आदि उत्तम आदर्श हैं जो गृहस्थी जीवन के लिए अनुकरणीय हैं। यहां प्रसंग है जीवन के उच्चादर्श-जीवन्मुक्ति का। हम जीवन्मुक्ति चाहते हैं तो हमारे लिए जीवन्मुक्त का आदर्श चाहिए। सांसारिकता में डूबे, लड़ाई-भिड़ाई तथा उसके लिए भी छल-छद्म करते हुए जीवन बिताने वाले राजनेता पुरुष जीवन्मुक्ति के आदर्श नहीं हो सकते हैं। वे राज-काज के आदर्श हो सकते हैं।

सबका महत्त्व अपनी-अपनी जगह पर है। डॉक्टर का महत्त्व है रोगी की चिकित्सा करने में, इंजीनियर का महत्त्व उसके अपने क्षेत्र में है। इसी प्रकार राजपुरुषों का महत्त्व उनके अपने क्षेत्र में है। परन्तु अध्यात्म सर्वोच्च क्षेत्र है। आध्यात्मिक ऊंचाई पर चढ़े हुए संतों के चरणों में राजे-महाराजे भी लोटते हैं। वाल्मीकीय रामायण पढ़िये। श्री राम सभी ऋषियों के आश्रम में जाकर उनके चरण-स्पर्श करते हैं, उनकी पूजा करते हैं। यह तो गोस्वामी तुलसीदास जी की कृपा है, जो उन्होंने मानस की रचना कर श्री राम के चरणों में सभी ऋषियों को झुका दिया है, यहां तक कि उत्तरकांड में गुरु वसिष्ठ को भी।

राम, कृष्ण, परशुरामादि कितने ही अवतार कहे जाने वाले या इनसे भिन्न किसी क्षेत्र में बढ़े-चढ़े हुए महापुरुष हों, वे सब आप्तकाम, निष्काम, अकाम, पूर्णकाम जीवन्मुक्त संत पुरुषों के चरणों में जाकर ही आध्यात्मिक कल्याण की प्रेरणा पा सकते हैं।

इस रमैनी की चौथी चौपाई में आया है 'पृथ्वी रवन'। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि उसने पृथ्वी पर रमण-रास नहीं किया, और दूसरा है कि उसने पृथ्वी से रमण नहीं किया। भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहिता में लिखा है कि कृष्ण ने हजारों पर-स्त्रियों से रंग-रास किया। गर्गसंहिता के अनुसार तो अरबों-खरबों स्त्रियों के साथ रंग-रास करने की बात है। हनुमत्संहिता में राम को हजारों पर-स्त्रियों से रंग-रास करने की बात लिखी है।

देवी भागवत के नवम स्कंध में लिखा है कि वराह भगवान जब हिरणाक्ष को मारकर पृथ्वी को ऊपर लाये, तो उसे देखकर उनका मन मोहित हो गया।

अतः वराह ने पृथ्वी के साथ एक दिव्य वर्ष तक विषय-विलास एवं रमण किया। फिर तभी पृथ्वी से मंगल नामक ग्रह ने जन्म लिया।

पृथ्वी मिट्टी का पिंड होने से उससे वराह का रमण नहीं बन सकता। यह तो पूरा गपसड़ाका है ही, श्री कृष्ण तथा श्री राम के विषय में लगायी गयी रासलीला पूरा काल्पनिक है और विषयी पंडितों की देन है। सद्गुरु कहते हैं कि रमण-वमण करने वाले जीवन्मुक्ति के आदर्श एवं उपासनीय नहीं हो सकते।

पुराणानुसार विष्णु ने सती-वृन्दा से छलपूर्वक यौनाचार किया था। जब वृन्दा को वास्तविकता का पता लगा, तब उसने विष्णु को शाप दिया कि जाओ इतने मतिभ्रष्ट हो तो पत्थर हो जाओ। फिर विष्णु काले पत्थर बनकर गंडकी नदी में लुढ़कने लगे। यह नदी हिमालय से निकलकर नेपाल में होती हुई और पथ में मिली अनेक छोटी-छोटी नदियों को लेती हुई पटना के पास गंगा में मिल जाती है। इसमें काले रंग के पत्थर मिलते हैं। वृन्दा के शाप से विष्णु ही काले पत्थर के रूप में हो गये हैं ऐसी पौराणिक कल्पना है जो निराधार है। किसी के शाप से कोई व्यक्ति पत्थर नहीं बनता। हां, विष्णु की बुद्धि पत्थर अवश्य बन गयी जो उन्होंने एक सती के साथ छल किया। विष्णु मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं हो सकते, यह तो उनके चरित्र से ही उजागर है।

लोग कहते हैं कि श्री कृष्ण परमात्मा के अवतार थे। उन्होंने जब द्वारका में शरीर का त्याग किया तब उनका शरीर ही जगन्नाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इसलिए जगन्नाथ की मूर्ति भी अवतार है। साहेब कहते हैं कि यह सब कपोलकल्पना है। श्री कृष्ण महामानव थे, और जगन्नाथ-मूर्ति जड़ पिंड है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे सांप्रदायिक बवंडर में मत पड़ो। जिसको मनुष्यों ने अनुमान कर कल्पना से गढ़ रखा है वह ईश्वर तथा अवतार न स्थूल है और न सूक्ष्म है। अर्थात वह न जड़-दृश्य है और न चेतन-द्रष्टा है। वह तो मनुष्यों के मन की कल्पना है। मनुष्य ही इनका कल्पक होने से वह स्वयं श्रेष्ठ है।

विवेक द्वारा माया से मुक्त होकर स्वरूप-राम में रमण

रमैनी-76

माया मोह सकल संसारा। इहै विचार न काहु विचारा॥ 1॥
माया मोह कठिन है फन्दा। करे विवेक सोई जन बन्दा॥ 2॥
राम नाम ले बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा॥ 3॥
साखी—राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।
आदि अन्त और युग युग, मोहि रामहि ते संग्राम॥ 76॥

शब्दार्थ—बंदा=बंदः, दास, भक्त, आज्ञाकारी, उपासक। बेरा=बेड़ा, लकड़ियों का गट्ठा, जिस पर बैठकर छोटे-छोटे नदी-नाले पार किये जाते हैं, जहाज। आदि=बोध-काल का आरम्भ, जब ज्ञान हुआ हो। अन्त=जीवन का अंत। युगयुग=नित्य, शाश्वत। संग्राम=युद्ध; परन्तु यहां का तात्पर्य है लक्ष्य।

भावार्थ—संसार के सारे प्राणी माया-मोह से ग्रसित हैं; परन्तु इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई विचार नहीं करता॥ 1॥ माया-मोह का बंधन बलवान है, जो विवेक कर इसे काट दे वही गुरु का सच्चा भक्त है॥ 2॥ राम ऐसा नाम जिस आत्मतत्त्व का है उस निज स्वरूप के बोध-जहाज में बैठकर साधक संसार की प्रवाह-धारा से पार हो जाता है॥ 3॥

राम-नामवाची निजस्वरूप-बोध बड़ा दुर्लभ है। यह जिसे सद्गुरु-संतों की संगत में मिल जाता है, उसके अन्य सारे विषयों की कामनाएं छूट जाती हैं। उसके मन में यह निश्चय हो जाता है कि बोध-काल के आदि से लेकर जीवन के अन्त तक मेरा लक्ष्य शाश्वत आत्मा-राम ही है॥ 76॥

व्याख्या—माया के मोह में संसार के सारे लोग डूबे हैं। माया मन का धोखा है और मोह एक मूर्च्छा है। संसार के अनुकूल प्राणी-पदार्थों के मिलने पर लगता है कि यह सब ऐसा ही सदैव रहेगा। जवानी, सौन्दर्य-सम्मान, शासन, स्वामित्व लगते हैं कि ये सब इसी प्रकार बने रहेंगे। यह मन का धोखा है, भ्रम है और इसी भ्रम में मूढ़ बनकर आदमी आत्म-कल्याण से बेभान बना रहता है। वह मिले हुए प्राणी-पदार्थों, अवस्था-परिस्थितियों, सम्मान-सुखों में रमता है और इसका परिणाम यह होता है कि उसके मन में जड़ाध्यास जमता जाता है। वह सत्संग, साधु-सेवा, स्वाध्याय, साधना आदि पर ध्यान नहीं देता। वह कभी नहीं सोचता कि मैं कौन हूं, यहां मेरा क्या है, इन सबका सम्बन्ध कब तक के लिए है!

मायावी पदार्थों में मोहमूढ़ बना मानव थोड़ी-थोड़ी चीजों के लिए दूसरों को धोखा देता है, छल करता है, हिंसा-हत्या करता है। झूठ, दुर्व्यसन, व्यभिचार तथा दुस्स्वभावों में डूबा अपने आप को वह संसार के गहन अंधकार-कुएं में डालकर सन्मार्ग से दूर हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "माया मोह सकल संसारा। इहै विचार न काहु विचारा॥" सारा संसार मोह की माया में मूढ़ बना है। इसका कोई विचार नहीं करता है कि इन मायावी पदार्थों का सम्बन्ध कितने दिनों तक है। इसके आगे वे कहते हैं "माया मोह कठिन है फन्दा।" माया-मोह की फांसी कठोर है। लग जाने पर उसका कटना सरल नहीं है। आप देखते हैं कि जो आदमी बीड़ी-तम्बाकू का सेवन करने लगता है और जब उनका आदती हो जाता है, तब उनमें हानि देखते हुए भी उन्हें छोड़ नहीं पाता। वह कहता है "एक समय भोजन न मिले तो कोई

अकाज नहीं, किन्तु बीड़ी-तम्बाकू मिलना चाहिए।" यह उसकी मोह-मूढ़ता है। जब ऐसी तुच्छ और गंदी चीजों के मोह में आदमी इतना मूढ़ हो जाता है, तब स्त्री, पुत्र, धन, घर, मान, बड़ाई आदि में आसक्त हो जाने पर उसके मन में कितनी कायरता आ सकती है, यह सहज समझा जा सकता है। माया-मोह केवल मन का भ्रम है। उसको तोड़ देना बड़ा सरल है। वह कठिन बंधन नहीं है, फिर कठिन क्यों हो जाता है; क्योंकि आसक्ति हो जाने पर आत्मबल का विस्मरण हो जाता है। यह केवल मन की बे-समझी है। एक लड़के को किसी लड़की से मोह हो जाता है। वह कहता है कि मैं उस लड़की के बिना रह नहीं सकता। यदि वह मुझे नहीं मिली, तो मैं अपनी जान खो दूंगा। वह उसी के पीछे दीवाना हो जाता है। परन्तु जब उसे एक दिन यह पता लगता है कि वह लड़की तो किसी दूसरे लड़के के साथ हो गयी है और वह मेरी हत्या करने का षड्यंत्र रच रही है, तो उस लड़के का मन उस लड़की से तुरन्त फट जाता है, और उलटकर उसके प्रति द्वेष बन जाता है। फिर उसके प्रति उसके मन में कोई मोहजनित आकर्षण नहीं रह जाता। वह जिसके लिए मर रहा था, अब क्षण ही में उससे एकदम विरत क्यों हो गया? क्योंकि उसकी बुद्धि बदल गयी। इसलिए जाना जाता है कि सारा मोह भ्रम-जनित है। मूढ़ता के कारण एवं आसक्तिवश उसका तोड़ना कठिन लगता है।

"करे विवेक सोई जन बन्दा" यह अर्धाली बहुत महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि वही गुरु का सच्चा सेवक एवं भक्त है जो विवेककर माया-मोह का त्याग करे। हृदय में शुद्ध विवेक उदय हो जाने पर माया-मोह का त्याग करना नहीं पड़ता, किन्तु वह स्वयमेव हो जाता है। सूर्य उदय होने पर अन्धकार हटाना नहीं पड़ता, किन्तु सूर्य के उपस्थित हो जाने पर अन्धकार स्वयं नहीं रहता। सूर्य के न होने से ही अन्धकार है। सूर्य सकारात्मक है और अन्धकार नकारात्मक। इसी प्रकार मनुष्य के मन में माया-मोह है ही इसीलिए, क्योंकि उसके हृदय में विवेक नहीं है। विवेक उदय होने पर माया-मोह का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। विवेक है वस्तुस्थिति की समझ। हम शरीर को एक आकर्षक वस्तु के रूप में देखते हैं, इसलिए उसमें मोह करते हैं। जब हमारे हृदय में विवेक उदय होता है, तब शरीर हड्डी का ढांचा, मांस का लोथड़ा, टट्टी-पेशाब का थैला तथा तीन तापों से तपता हुआ तवा लगता है। तब हम इसे केवल आत्मकल्याण तथा जनकल्याण का साधन मानते हैं, भोगों का साधन नहीं। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार देख लेना विवेक है। विवेक उदय होने पर हमें लगता है कि मिले हुए अनुकूल-से-अनुकूल प्राणियों के पास भी मन है। उनके मन में अन्तर हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यहां किससे मोह किया जाये! यहां कौन अपना है। बहुत प्यारा समर्पित व्यक्ति भी तो रोग,

बुढ़ापा तथा मृत्यु के अधीन है। विवेक बताता है कि सारा संग्रह विनशता है, उन्नति के बाद पतन प्रकृति का स्वभाव है, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग ध्रुव है तथा जिसका जन्म हुआ है, उसे मरना है चाहे वह कितना बड़ा आदमी हो। संसार का स्वभाव है खिलने के बाद मुरझा जाना, चुनने के बाद ढह जाना।

मैं शुद्ध चेतन हूं, शरीर जड़ है। मैं अविनाशी हूं, शरीर नाशवान है। मेरा तथा संसार का सम्बन्ध मान्यता मात्र है। इस संसार में मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा केवल मैं हूं। मैं से मैं कभी अलग हो नहीं सकता, शेष सर्वथा अलग ही है। विषय-वासनाओं को छोड़कर मैं सदैव पूर्णकाम, आप्तकाम, अकाम, निष्काम एवं अमृतधाम हूं। यह विवेक-प्रकाश जिसके हृदय में उदय हो जाता है वह सदैव कृतकृत्य, मंगलमय एवं सुख-सागर हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं "करे विवेक सोई जन बन्दा" जो विवेक करे, वही गुरुभक्त है, वही सच्चा उपासक है और वही धर्म का अनुयायी है।

"राम नाम ले बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा॥" यहां राम नाम के सस्ते जहाज से पार जाने की बात न सोच लेना चाहिए। कबीर साहेब अपनी बातें तात्कालिक जनभाषा में कहते हैं, परन्तु उनकी बातों का रहस्य गम्भीर होता है। वे केवल यांत्रिक राम-नाम जप को भव-बंधन काटने का शस्त्र नहीं मानते। उनका संकेत है स्वरूपज्ञान के लिए। व्यक्ति का जो अपना शुद्ध चेतन-स्वरूप है, जिसे हम राम-नाम से भी जानते हैं, उसका ज्ञान एवं बोध ही वह जहाज है जिससे कोई भी संसार-सागर से पार जा सकता है। संसार-सागर की धारा मन है। हम मन द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं वह सब नाम-रूपात्मक संसार है। जब हमें अपने चेतन-स्वरूप का बोध होता है, तब हम मन की मान्यताओं से मुक्त हो जाते हैं। 'स्व' चेतन है 'पर' संसार है। 'स्व' का बोध ही 'पर' से मुक्त होने का साधन है। यह 'स्व' ही राम है। स्व-राम में रमण ही संसार-सागर से पार जाने का जहाज है। जिसे संसार-सागर से मुक्त होना हो, वह अपने चेतन-स्वरूप-राम में रमण करे। आत्मबोध, आत्मरति तथा आत्मतुष्टि ही कृतकृत्यता है।

"राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।" जिसे हम राम-नाम से जानते हैं, उस स्व-स्वरूप का बोध बड़ा दुर्लभ है। यह कैसा आश्चर्य का विषय है कि जो नित्यप्राप्त अपना स्वरूप है, उसी का ज्ञान, उसी का बोध पाना कठिन हो गया है। यह प्रकृति का स्वभाव है कि अत्यन्त निकट की वस्तु देखना कठिन होता है। हम अपनी जिन आंखों से दूर-दूर के ग्राम, पर्वत, वन, बादल आदि को साफ देख लेते हैं, उन्हीं से अपनी आंखों के पास फैले अपने मुंह को

नहीं देख पाते। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख पाते। ध्यान देने योग्य बात है कि हम अपनी आंखें भले नहीं देख पाते हैं, परन्तु थोड़ा विवेक करने से यह साफ हो जाता है कि मेरी आंखें हैं। अपनी आंखों से ही तो मैं देखता हूं। आंखें न होतीं तो मैं कैसे देखता ! इसी प्रकार मैं न होऊं तो सबका ज्ञाता कौन हो? मैं ही तो दृश्यों को जानता हूं। जानने वाला जानी हुई चीजों से अलग होता है। अतः मैं सबका ज्ञाता, सबसे भिन्न शुद्ध चेतन-स्वरूप हूं। जीव दृश्य-विषयों में उलझा है, इसलिए उसे अपने स्वरूप का ज्ञान दुर्लभ हो गया है, परन्तु जब वह विषयों से उलटकर अपनी ओर देखता है, तब स्वरूपबोध सहज होता है। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है "प्रतिबोध से जाने हुए ज्ञान से ही अमरता मिलती है।"[1] यहां 'बोध' का अर्थ है दृश्य-विषयों को जानना, और 'प्रतिबोध' का अर्थ है विषयों से लौटकर अपनी ओर ध्यान देना कि विषयों को किसने जाना ! फिर यह ज्ञान हो जायेगा कि जड़-विषयों को जानने वाला मैं चेतन हूं। इस प्रकार विषयों से लौटकर अपने चेतन-स्वरूप में स्थित होने से ही अमरता मिलती है। अपनी अमरता का बोध हो जाना ही अमरता की प्राप्ति है। अमर तो जीव है ही। उसे न जानकर अपने को मरणधर्मा समझता है और मृत्यु से भयभीत रहता है। जब स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा स्वरूपस्थिति हो जाती है, तब जीव निर्भय हो जाता है।

ऐसी दशा में पहुंचकर फिर "औरे ते नहीं काम" की स्थिति हो जाती है। जिसने सारे विषयों को परखकर त्याग दिया, वह अपने पारख स्वरूप में निमग्न रहता है। उसकी दृष्टि में अन्य सारे विषय तुच्छ हो जाते हैं। उसे किसी से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वह तो ऐसी दशा प्राप्त होने के समय से जीवन के अंत तक इसी में रमता है। शाश्वत राम-स्वरूप चेतन ही उसका लक्ष्य हो जाता है। "मोहि रामहि ते संग्राम" यहां संग्राम का अर्थ युद्ध नहीं है। यहां संग्राम का लाक्षणिक अर्थ है लक्ष्य। बोधवान अपने पूरे जीवन में राम को ही अपना लक्ष्य मानता है। वह सदैव स्वरूप-राम में ही रमता है।

स्व-स्वरूप की पहचान

रमैनी-77

एकै काल सकल संसारा। एक नाम है जगत पियारा॥ 1॥
त्रिया पुरुष कछु कथ्यो न जाई। सर्बरूप जग रहा समाई॥ 2॥
रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरुवा जाय न तौली॥ 3॥
भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं। दुख सुख रहित रहै तेहि माहीं॥ 4॥

---

1. प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। (केन उपनिषद् 2/4)

साखी—अपरं परं रूप मगुरंगी, आगे रूप निरूप न भाय।
बहुत ध्यान के खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय॥ 77॥

शब्दार्थ—काल=समय, अन्त, मृत्यु, मनःकल्पना। एक नाम=राम, आत्मा, चेतन जीव। सर्वरूप=सभी देहों में। निरूप=रूप रहित। तेहि माहीं=स्वरूप में। अपरं परं=सर्वोच्च। रूप=चेतन स्वरूप। मगुरंगी=उसी मार्ग में लीन होओ, स्व-स्वरूप में स्थित होओ। रूप=चेतन स्वरूप। निरूप=निरूपण, अन्वेषण, खोज। भाय=भाई। तेहि=चेतन। संख्या=तरीका, गणना।

भावार्थ—संसार के सारे उत्पन्न पदार्थों को एक ही काल विनष्ट करता है, और एक ही मनःकल्पना जीवों को भटकाती है। संसार में एक आत्मअस्तित्व ही सभी जीवों को प्रिय है॥ 1॥ उस चेतन-स्वरूप राम को न स्त्री कहा जा सकता है और न पुरुष; क्योंकि वह स्वयं लिंग-रहित शुद्ध चेतन है। वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमादि सभी रूपों-शरीरों में प्रविष्ट होकर अपनी सत्ता का आभास देता है॥ 2॥ उसका कोई भौतिक रूप-रंग नहीं है; परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि वह रूप-रहित है, अर्थात द्रव्यत्व-रहित है। क्योंकि वह ज्ञानरूप है ही। उसका हलका-गरुआ वजन नहीं किया जा सकता॥ 3॥ उसे न भूख लगती है और न प्यास; न उसे धूप की आवश्यकता है और न छाया की। क्योंकि सुख-दुख द्वंद्वों से रहित उसकी स्थिति उसके मूल स्वरूप में ही है। अथवा बोधवान को ऐसे निर्द्वंद्व स्वरूप में स्थित रहना चाहिए॥ 4॥

उसका स्वरूप सर्वोच्च है, अतः उसी निज स्वरूप में नित्य रमण करो। हे भाई! इसके आगे उसके स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता। बड़ी एकाग्रता से उस पर विचार करने के बाद यह निर्णय हुआ कि अनुभव के अलावा उसको समझने का अन्य कोई तरीका नहीं है, या वह गुण में एक होने पर भी व्यक्तित्व में अनेक होने से उसकी गणना नहीं की जा सकती—'पुरुष बहुत्वं सिद्धम्'॥ 77॥

व्याख्या—"एकै काल सकल संसारा" संसार की सारी वस्तुओं को एक काल बदलता रहता है। काल क्या है? एक महाकाल है दूसरा खंडकाल है। महाकाल का रूप अनादि-अनन्त है। अर्थात उसकी न शुरुआत है और न आखिर। खंडकाल क्षण, पल, सेकेंड, मिनट, घंटा, प्रहर, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष आदि हैं। वैशेषिक दर्शन ने काल को द्रव्य माना है जो विचारणीय है। देश और काल के आयाम में ही सारी वस्तुएं गति करती हैं। इसी में परिवर्तन होता है जिसे हम निर्माण और विनाश के रूप में देखते हैं। जैसे पत्ता खेलने वाले

पत्ते को तर-ऊपर बारम्बार करते हुए फेरते हैं और उसको वे पीसना कहते हैं, वैसे काल संसार की सारी चीजों को पीसता है। सद्गुरु का महावाक्य है "दुइ पाट भीतर आय के, साबुत गया न कोय।"[1]

ज्ञानी पुरुष विचार के उत्तुंग शिखर पर बैठकर देखता है तो उसे लगता है कि देश और काल के दो पाटों की चक्की में सारा संसार निरंतर पीसा जा रहा है। संसार की बड़ी-बड़ी हस्तियों को काल पीसकर रख देता है। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, यदुवंश आदि के बड़े-बड़े राजे-महाराजे और उनके विशाल राज्य, संपत्ति तथा ऐश्वर्य कहां गये ! कितनों के तो कोई नाम भी नहीं जानता है। अभी आपके नगर या गांव में सौ वर्ष के पुराने घर मिलना मुश्किल हैं। आपके घर में सौ वर्ष की पुरानी वस्तु मिलना मुश्किल है, जबकि इस महाकाल के मध्य में सौ वर्ष एक सेकेंड से भी कम है।

सद्गुरु कबीर इस रमैनी की प्रथम पंक्ति की प्रथम अर्धाली में सभी भौतिक वस्तुओं को निरंतर पीसने वाले काल की याद दिलाकर संसार से वैराग्य कराते हैं और अगली अर्धाली में अविनाशी स्वरूपबोध की सर्वप्रियता का स्मरण दिलाकर मनुष्य के मन में ज्ञान जगाते हैं। संसार की क्षणभंगुरता जाने बिना वैराग्य नहीं होता, और विषयों से वैराग्य हुए बिना अविनाशी स्वरूप का शोधन नहीं होता।

काल की दूसरी व्यंजना है मन की कल्पनाओं के लिए। यह काल जीव को भटकाता है। संसार के सारे जीवों को मन की कल्पना रूपी काल भटका रहा है, जो जीव का ही पैदा किया हुआ है, परन्तु उसी की भूल से वह उसी को निरंतर पीड़ित करता है। जीव के मन की कल्पनाएं ही जीव को मलिन विषयों में, राग-द्वेष में, मोह-शोक में तथा परोक्ष अवधारणाओं में भटकाती हैं। यह बाहरी काल से अधिक भयंकर है।

समय रूपी काल तो चलता रहेगा और उससे शरीरादि जड़ पदार्थ विनशते रहेंगे, तो उसमें जीव का कोई अकल्याण नहीं, किन्तु मनःकल्पना रूपी काल जीव के गले की फांसी है। इससे बचना उसका काम है। काल की पहली व्यंजना में जहां संसार की नश्वरता का दिग्दर्शन है, वैराग्य है; और दूसरी व्यंजना में जहां जीव के बन्धन हैं, सावधानी है। इस प्रकार वैराग्य और सावधानी के साथ अब आगे स्वरूपज्ञान के क्षेत्र में उतरना है।

"एक नाम है जगत पियारा" कौन-सा नाम पूरे जगत को प्यारा है? विचार करके देखा जाये, तो संसार का कोई भी नाम संसार के सभी लोगों को प्रिय

---

1. बीजक, साखी 129।

नहीं है। राम, अल्ला, शिव कोई भी नाम हो सबको पसंद नहीं है। किसी मसजिद में कह दीजिए राम या शिव, देखिए आफत आ जायेगी। इसी प्रकार किसी मन्दिर में अल्ला कहकर देख लीजिए। अतएव संसार में एक भी ऐसा नाम नहीं है जो सबको प्रिय हो।

सद्गुरु ने यहां "एक नाम है जगत पियारा।" कहकर व्यक्ति के अपने अविनाशी आत्मस्वरूप का संकेत किया है। कबीर साहेब की वाणी में शाब्दिक अर्थों से हटकर लाक्षणिक अर्थों की भरमार है। अतः यहां 'एक नाम' से अर्थ है एक आत्मतत्त्व जो सबको प्रिय है। हर जीव को सबसे प्यारा क्या है? अपनी आत्मा, अपना आपा।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का एक सुन्दर उदाहरण है। ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं, एक का नाम था मैत्रेयी तथा दूसरी का नाम था कात्यायनी। ऋषि ने दोनों को धन बांटकर दे दिया और स्वयं संन्यास लेने के लिए घर छोड़कर चलना चाहा। कात्यायनी तो साधारण बुद्धि की थी, वह कुछ न कह सकी; परन्तु मैत्रेयी समझदार थी। उसने पूछा और याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

'क्या मैं इस धन को पाकर अमर हो जाऊंगी?'[1]

'धन से अमरता की आशा नहीं करना चाहिए।'[2]

'तो मैं जिससे अमरता न पा सकूं, उसको लेकर क्या करूंगी?'[3]

'तो ले सुन, मैं तेरे को अमरता का रास्ता बताता हूं। पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए पति प्रिय होता है; पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है। इसी प्रकार पुत्र, धन, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव, ऐश्वर्य तथा अन्य सारी चीजों को हम उन-उन के लिए प्यार नहीं करते, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए ही प्यार करते हैं। जिस आत्मा के लिए हम सब कुछ को प्यार करते हैं, वह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने तथा निदिध्यासन करने योग्य है। हे मैत्रेयी ! आत्मा को देखने, सुनने, समझने और जानने से मनुष्य मानो सब कुछ जान जाता है और सब कुछ पा लेता है।'[4]

---

1. कथं तेन अमृता स्याम्।
2. अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन। बृह. उप. 2/4/2।
3. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् । बृह. उप. 2/4/3।
4. ...आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। (बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 2, ब्राह्मण 4, मन्त्र 5)

अतएव व्यक्ति का जो सबसे प्यारा है वह अपनी आत्मा है। आत्मा का अर्थ है अपने आप, चेतन जीव एवं स्व। 'एक नाम है जगत पियारा' की जगह हम समझ लें 'एक जीव है जगत पियारा'—'एक आत्मा है जगत पियारा।'—'एक राम है जगत पियारा'—'एक चेतन है जगत पियारा'—'एक स्व-स्वरूप है जगत पियारा'।

बाहर की वस्तुएं चाहे जितनी प्रियकर हों, उनका एक दिन छूट जाना निश्चित है; किन्तु जीव अपने आपा से, अपने स्वरूप से कभी अलग नहीं हो सकता। बाहर की चीजें चाहकर भी सदा के लिए अपने पास रखी नहीं जा सकतीं तथा अपना आपा चाहकर भी हम अपने से अलग नहीं कर सकते। इसलिए जगत के सभी जीवों को सर्वाधिक प्रिय 'आपा' है, आत्मा है, चेतन स्वरूप है।

"त्रिया पुरुष कछु कथ्यो न जाई। सर्व रूप जग रहा समाई॥" हम अपनी आत्मा को, सभी देहों में रमने वाले अविनाशी चेतन को स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं कह सकते। क्योंकि स्त्रियत्व, पुरुषत्व, नपुंसकत्व देह के लक्षण हैं, जीव के नहीं। जीव तो सभी प्रकार की देहों में, यहां तक कि पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि में भी समान चेतन मात्र है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"यह जीव आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस-उस से जुड़ जाता है।"[1]

"रूप निरूप जाय नहिं बोली" अर्थात उसका कोई रूप नहीं कह सकते हैं। कैसे कहा जाये कि जीव लाल, पीला, काला, उजला आदि रंग या अमुक आकृति वाला एवं रूप वाला है। संसार के सारे दृश्यमान रूप भौतिक हैं। चेतन आत्मा का रूप नहीं बता सकते। अब यदि कहा जाये कि वह नि-रूप है, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जीव सत्तावान नित्य द्रव्य है, तो उसको नि-रूप—अ-द्रव्य कैसे कह सकते हैं। इसलिए चेतन को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। इस आत्मा को कोई तौल नहीं सकता कि यह बताये कि वह हलका है या वजनदार।

"भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं" भूख-प्यास लगना देह का काम है, जीव के शुद्ध स्वरूप में भूख-प्यास लगने की कोई बात नहीं उठती। धूप और छाया की आवश्यकता देह को लगती है। देह में ठंडक लगने पर धूप-सेवन की आवश्यकता होती है तथा धूप लगने पर छाया की। जो देहातीत शुद्ध-चेतन है उसमें जैसे भूख-प्यास की गुंजाइश नहीं, वैसे उसमें ठंडी-गरमी लगने की

---

1. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ (श्वेताश्वतर उप. 5/10)

गुंजाइश न होने से उसे धूप तथा छाया की आवश्यकता नहीं। चेतन का स्वरूप अभौतिक होने से वह मूलतः सुख-दुख द्वन्द्वों से परे है। अतएव बोधवान को चाहिए कि वह ऐसे निर्मल शुद्ध स्वरूप चेतन में ही सदैव स्थित रहे।

सद्गुरु ने ऊपर जीव के शुद्ध लक्षण बताये कि वह न स्त्री है न पुरुष, न रूपवान है न शून्य, न हलका है न गरुआ, न उसमें भूख-प्यास है न ठंडी-गरमी और न सुख-दुख। वह तो बस, केवल चेतन है। साधक को चाहिए कि वह इन लक्षणों को अपने लक्ष्य में रखकर देहाभिमान से दूर हो। वह हर समय यह समझे कि मैं स्त्री-पुरुष नहीं हूं, मैं काला-गोरा नहीं हूं। मुझे भूख-प्यास, ठंडी-गरमी नहीं लगती है। मैं तो देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध-चेतन हूं। यह बोध-मनन शांति-स्वास्थ्य के लिए अमृत-टानिक है। स्वरूप-ज्ञान की निरन्तर स्थिति से ही निर्भयता आती है। निर्भयता ही अमरता है। निर्भयता ही अमृत है।

"अपरं परं रूप मगुरंगी" इस प्रकार मेरा अपना चेतन स्वरूप 'अपरं परं' सर्वोच्च है। स्व-चेतन ही में तो सबका बोध होता है। सबका बोध करने वाला सबको जानने वाला ही तो सर्वोच्च है। सद्गुरु कहते हैं 'मगुरंगी' इसी मार्ग में रंगो। इसी स्वरूप-विचार में निरन्तर तन्मय रहो। "आगे रूप निरूप न भाय" हे भाई, इसके आगे स्वरूप का अन्य कोई निरूपण, निर्धारण एवं विवरण नहीं हो सकता। शब्दों में अधिक विवरण दिया ही नहीं जा सकता। उसको अपरोक्ष जानने का तरीका अनुभव ही है। हम जैसे विषयों से लौटते हैं, वैसे आत्मसत्ता का बोध होता है। 'मैं हूं' इसके लिए अन्य विवरण की क्या आवश्यकता! इसलिए ज्यादा शब्दजाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। सदैव स्व-अस्तित्व एवं आत्म-अस्तित्व में निमग्न रहना चाहिए।

"बहुत ध्यान कै खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय" सद्गुरु कहते हैं कि विवेकियों ने बहुत ध्यान देकर, बहुत एकाग्र होकर इस विषय पर चिंतन किया है, परन्तु स्व-स्वरूप को जानने का कोई दूसरा तरीका नहीं हो सकता। इसका एकमात्र तरीका है ध्यान, समाधि। जब सारे दृश्य निवृत्त हो जाते हैं, तब शेष द्रष्टा रहता है। जब तक मन है, विचार उठते हैं, तब तक दृश्य है; जब मन शून्य हो गया, निर्विचार अवस्था में पहुंच गया तब स्व-चेतन मात्र रह गया। बस, यही आत्म-अस्तित्व का पूर्ण बोध है। परखकर जब सारा दृश्य त्याग दिया, तब स्वयं पारख स्वरूप चेतन रह गया। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है—

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झाँई भ्रम कूप॥ (त्रिज्या, अंत स्तुति)

"नहिं तेहि संख्या आय" यह वचन बहु जीववाद एवं 'पुरुष बहुत्वं' को व्यंजित करता है। सभी जीवों का गुण एक चेतना है, परन्तु व्यक्तित्व सबका

अलग-अलग है, तभी सबके कर्म-फल-भोग एवं बंध-मोक्ष की व्यवस्था बनती है। जीव, आत्मा, चेतन, हंस कुछ भी कहो, असंख्य हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण संसार का व्यवहार है। सबमें गुणात्मक एकता है। सबका एक गुण ज्ञान है। परन्तु सभी जीव एक दूसरे से सर्वथा भिन्न अस्तित्व रखते हैं। अतएव "नहिं तेहि संख्या आय" का सरल भावार्थ 'पुरुष बहुत्वं' का बोध कराता है।

देहाभिमान की निन्दा

रमैनी-78

मानुष जन्म चूकेहु अपराधी। यहि तन केर बहुत हैं साझी॥ 1॥
तात जननि कहैं पुत्र हमारा। स्वारथ जानि कीन्ह प्रतिपारा॥ 2॥
कामिनि कहै मोर पिउ आही। बाघिनि रूप गिरासा चाही॥ 3॥
सुत कलत्र रहैं लौ लाई। यम की नाँईं रहैं मुख बाई॥ 4॥
काग गिद्ध दोउ मरण विचारें। सीकर श्वान दोउ पन्थ निहारें॥ 5॥
अगिन कहै मैं ई तन जारों। पानि कहै मैं जरत उबारों॥ 6॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै संग लेउँ उड़ाई॥ 7॥
तेहि घर को घर कहै गँवारा। सो बैरी होय गले तुम्हारा॥ 8॥
सो तन तुम आपन कै जानी। विषय स्वरूप भुलेउ अज्ञानी॥ 9॥

साखी—इतने तन के साझिया, जन्मों भरि दुख पाय।
चेतत नाहिं मुग्ध नर बौरे, मोर मोर गोहराय॥ 78॥

शब्दार्थ—साझी=हिस्सेदार। तात=पिता। जननि=माता। कामिनि=कामोन्मादिनी, रखैल। पिउ=प्रियतम। कलत्र=विवाहिता पत्नी। लौ=कामना। सीकर=सियार। मुग्ध=विमोहित। बौरे=पागल। गोहराय=पुकारना।

भावार्थ—हे मानव! यह तेरा बहुत बड़ा अपराध है जो विवेक-संपन्न मानव-जीवन पाकर भी तूने इससे कल्याण-साधना नहीं की और देहाभिमान के धोखे में पड़ा रहा। जिस शरीर को तू अपना मानता है, उसके बहुत हिस्सेदार हैं॥ 1॥ तेरे शरीर को माता-पिता कहते हैं कि यह मेरा पुत्र है। तुम्हारे शरीर से अपना स्वार्थ-लाभ जानकर वे इसका पालन-पोषण करते हैं॥ 2॥ तुम्हारी कामोन्मादिनी प्रेमिका तुम्हारे शरीर को अपना प्रियतम बताती है; परन्तु वह सिंहनी बनकर तुम्हें खा जाना चाहती है॥ 3॥ स्त्री, पुत्रादि परिवार के अन्य लोग भी तुम्हारे शरीर से बहुत-सारी कामनाएं रखते हैं और यम की तरह मुख फैलाये तुम्हारा सब कुछ हड़प कर जाना चाहते हैं॥ 4॥ कौआ, गिद्ध, सियार और कुत्ते तुम्हारे शरीर की मरण-कामना करते हैं और तुम्हारी लाश का रास्ता देखते हैं कि कब यह खाने को मिलेगी॥ 5॥ अग्नि कहती है मैं इस शरीर को

पाऊं तो इसे जलाकर अपने अंश को अपने में मिला लूं, और पानी कहता है कि मैं इसे जलने से बचाकर अपने अंश को अपने में मिला लूं॥ 6॥ धरती कहती है यह शरीर मेरे अन्दर आये तो मैं इसे अपने में मिला लूं और पवन कहता है कि यह मुझे मिले तो मैं अपने अंश को उड़ा ले चलूं॥ 7॥ मूढ़ मानव ! ऐसे साझी के घर को तू अपना घर कहता है ! आत्म-कल्याण तथा पर-कल्याण में इस शरीर को न लगाकर इसके द्वारा विषयासक्ति और दुष्कर्म करने से तो यह शत्रुरूप होकर तुम्हारे गले लग गया है॥ 8॥ ऐसे साझी के जड़ तथा नश्वर शरीर को तूने अपना करके मान रखा है। हे आत्मज्ञान से विहीन अज्ञानी मानव ! तू विषयरूप शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर इसी में भूल गया है॥ 9॥

ऊपर कथित शरीर के इतने हिस्सेदार हैं। इसके आसक्तिवश तू जीवन भर दुख पाता है। हे विमोहित पागल मानव ! तिस पर तू सावधान नहीं होता और इस शरीर तथा परिवार को मेरा-मेरा कहकर चिल्लाता है॥ 78॥

व्याख्या—कबीर साहेब का हृदय तीव्र संवेदनशील था। वे जिस विषय पर कहते हैं अपने श्रोताओं एवं पाठकों के मन को मथ देते हैं। इस रमैनी में उन्होंने देहाभिमान पर करारी चोट की है। वे कहते हैं जो इतना उत्तम विवेकसंपन्न मानव-शरीर पाकर आत्म-कल्याण तथा पर-कल्याण में नहीं लगता, बल्कि केवल सूअर की तरह पेट भरता और बन्दर की तरह भोगों को भोगता रहता है, वह अपराधी है। वह दण्ड का पात्र है। उसको प्रकृति द्वारा दण्ड मिलना है।

व्यक्ति अविवेकवश समझता है कि मैं देह हूं। वह निरन्तर देह के ही मोह में पड़ा हुआ इसी को पालने तथा इसके द्वारा भोगों को भोगने में लगा रहता है। और इसी के अहंकार में डूबा रहता है। शरीर का पालना बुरा नहीं है। मनुष्य का पहला काम है कि वह अपने शरीर को संतुलित आहार-विहार से स्वस्थ रखे। परन्तु यह ध्यान रहे कि शरीर साध्य नहीं, किन्तु साधन मात्र है। मनुष्य का साध्य है आत्मकल्याण। आत्मकल्याण है पूर्ण शांति। पूर्ण शांति होती है वासनाहीन मन में। अतएव जो कुछ छूटने वाला है देह से संसार तक, सबकी वासना, कामना तथा मोह छोड़कर ही शांति मिलेगी। वासना छोड़ने का मतलब कर्तव्य त्यागना नहीं है, किन्तु मोह त्यागना है जो कर्तव्य पथ में भी रोड़ा बनता है।

दृष्टिकोण के अंतर से प्राप्त-शक्ति के सदुपयोग तथा दुरुपयोग का अंतर होता है। 'मैं' शरीर हूं। जीवन का लक्ष्य शरीर से अधिक-से-अधिक भोगों को भोगना है। यह अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण है, और इसका फल काम, क्रोध, लोभ,

मोह, व्यभिचार, हत्या, दूसरे के अधिकार का हरण, मन की उलझन तथा अशांति है। 'मैं' शरीर नहीं, शुद्ध चेतन हूं। शरीर तो जड़ तथा नाशवान है। यह केवल आत्मकल्याण एवं लोककल्याण का साधन है। यह विवेकपूर्ण दृष्टिकोण है। इसका फल अनासक्ति, वासना-हीनता, पर-सेवा तथा पूर्ण शांति है। जीवन दोनों दृष्टिकोण वाले जीते हैं। एक अपने तथा दूसरों के लिए अभिशाप बनता है तथा दूसरा अपने और दूसरों के लिए वरदान बनता है।

जो धन को उद्देश्य समझता है, वह जिस किसी प्रकार धन बटोरकर केवल उसे जमा करता है; और जो धन को साधन समझता है वह नीतिपूर्वक संग्रह करते हुए उसको जनकल्याण में खर्च करता है। धन से दोनों जुड़े होते हैं, परन्तु दोनों के जीवनस्तर में महान अंतर होता है। एक धन का गुलाम बना जीवनभर नरक भोगता है। दूसरा धन का सदुपयोग कर शांति और सुयश का भागी होता है। अतएव आत्म-कल्याण एवं जन-कल्याण के लिए देह, परिवार, धन आदि समस्त प्राप्त-शक्तियों की आसक्ति का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। आसक्त आदमी के कर्तव्य उज्ज्वल नहीं होते। उसी के कर्म उज्ज्वल होते हैं जो सर्वत्र अनासक्त है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे देहाभिमानी ! जिस शरीर का तू अहंकार करता है उसके बहुत साझीदार हैं। एक ही तेरा शरीर किसी का पिता है, किसी का पुत्र, किसी का साला है, किसी का जीजा, किसी का मामा, किसी का भांजा, किसी का मित्र है तथा किसी का शत्रु। अंततः यह शरीर तेरा नहीं है। जिस देहाभिमान में पड़कर तू लूट-खसोटकर अपने माने हुए परिवार को संपन्न बनाने का पाप कर रहा है, उसका क्षण मात्र का ठिकाना नहीं है। ये परिवार के लोग तेरे कितने दिन के साथी हैं ! अंततः किसका कौन है !

जिस शरीर पर तुम्हें गर्व है, उसे चारों तरफ से नोच-नोचकर खाने वाले लगे हैं, परिवार के लोग दूसरी तरह नोचते हैं और हिंसक जन्तु दूसरी तरह। जीव के निकल जाने पर तो यह शरीर सियार, कुत्ते, चील, गीध का आहार बनेगा, या कीड़ों का खाद्य या मछली-कछुओं का भोजन या आग का अंगार।

हर समय शरीर में असंख्य जड़-कण संयुक्त होते हैं तथा उससे असंख्य जड़-कण निकलकर बाहर विकीर्ण होते हैं। विज्ञान के अनुसार सात वर्ष में शरीर के सारे कण बदल जाते हैं। जो शरीर क्षण-क्षण बनता और बिगड़ता है और एक दिन प्रकृति में लीन होकर आकाश-कुसुम के समान शून्य हो जाता है, उसका मोह कर विषयासक्ति के कीचड़ में पड़े रहना बहुत बड़ी नादानी है।

शरीर छूटते ही यह मिट्टी, पानी, आग, हवा में मिल जायेगा, क्योंकि यह इसी से बना है। यहां 'अगिन कहै...पानी कहै...धरती कहै...तथा पवन कहै' जो कथन है यह कहने का एक तरीका है! अग्नि आदि जड़ तत्त्व हैं, अचेतन हैं। ये न कुछ जानते हैं और न कुछ कह सकते हैं। जैसे कोई कहे कि घर गिरना चाहता है। तो घर कोई सचेतन तो है नहीं जो गिरना चाहेगा। तात्पर्य है घर गिरने वाला है; क्योंकि कमजोर दिखता है।

मिट्टी, पानी, आग, हवा ये चार ही तत्त्व द्रव्य हैं। इन्हीं में क्रिया, गुण तथा स्वभाव हैं। द्रव्य का मुख्य लक्षण है क्रिया, जो इन्हीं चारों में है। आकाश कोई द्रव्य नहीं है, अतः उसमें कोई क्रिया नहीं है। न उससे कुछ निर्माण होता है और न उसका कोई परिणाम होता है। इसलिए सद्गुरु ने इस रमैनी में जहां अग्नि, पानी, पृथ्वी तथा पवन के नाम लिये वहां आकाश का नाम नहीं लिया। वैसे अन्यत्र जहां तत्त्वों के नाम लिये वहां पांच कहा, जैसे 'पाँच तत्त्व का पूतरा'...'पाँच तत्त्व ले या तन कीन्हा' आदि।

आकाश क्रियाहीन है, इसीलिए गीताकार ने भी जहां कहा—"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता तथा वायु सुखा नहीं सकता।"[1] वहां आकाश का उल्लेख नहीं किया। गीता के इंगलिश अनुवादक स्वामी चिद्भावानंद ने भी लिखा है कि पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है, इसलिए उसका वर्णन यहां नहीं किया गया है।[2]

अब हम अपने मूल स्थान पर आवें। सद्गुरु कहते हैं, हे गंवार! तू असंख्यात कणों के जोड़ शरीर को अपना स्वरूप मानकर उसमें आसक्त होता है। जो अंततः तेरा नहीं है उसे अपना मानता है। शरीर विषय रूप है। यह तेरा स्वरूप नहीं है। तेरा स्वरूप तो शुद्ध चेतन है। तेरे को अपने आपा का भान नहीं रहा और तू देह ही को अपना आपा मान लिया और उसके मलिन भोगों में लिपटकर सारे दुर्गुणों, दुर्वासनाओं का शिकार हो गया।

इस रमैनी का सार यह है कि यह शरीर अपना नहीं है। फिर शरीर सम्बन्धी प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति अपने कैसे हो सकते हैं? राग, द्वेष, वैर, विश्वासघात, हत्या, शोक, मोह आदि सभी दोषों के हेतुभूत विषयासक्ति, सुखाध्यास एवं जड़ पदार्थों की ममता है। बिना इनकी निवृत्ति हुए न दोषों का अन्त होगा और न दुखों का। बड़े-बड़े विद्वान, धनवान तथा श्रेष्ठ अधिकारी भी एक विषयासक्ति के कारण नाना दुराचार कर कुवासनावश रात-दिन मन-ही-

---

1. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (गीता 2/23)
2. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. (Shri Ramkrishan Tapovanam. Tirupparaitturai)

मन जलते हैं। घर में, ग्राम में, मोहल्ले में, समाज में, राष्ट्र में तथा विश्व में जो सर्वत्र उपद्रव दिखते हैं—सबका कारण विषयासक्ति है। मनुष्य इन्हें नहीं छोड़ता, प्रत्युत सुख के लिए अन्य-अन्य उपाय करता है। परन्तु जब तक विषयासक्ति तथा देहाभिमान का अन्त नहीं होगा, तब तक मनुष्य का कल्याण कहां? अतएव इनकी मोह-मदिरा से जागो और स्वरूप विचार में पागो। विशाल देव कहते हैं—

उतपति होय न जाहि की, सदा अकेले आप।
मोह करे सो काहि सो, जहाँ न कोई मिलाप॥

(भवयान, अपनाबोध, साखी 5)

तुम्हारा लक्ष्य तुमसे अलग नहीं

रमैनी-79

बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी। परखत खरी परखावत खोटी॥ 1॥
केतिक कहौं कहाँ लौं कही। औरो कहौं पड़े जो सही॥ 2॥
कहे बिना मोहि रहा न जाई। बिरही ले ले कूकुर खाई॥ 3॥
साखी—खाते खाते युग गया, बहुरि न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ये जीव अचेतहि जाय॥ 79॥

शब्दार्थ—खरी=सत्य। खोटी=असत्य। बिरही=विरही, बिछुड़ा हुआ, प्रिय से वियुक्त, एकाकी। कूकुर=कुत्ता, मन।

भावार्थ—भोगों को भोगते जाने से वासनाएं बढ़ती जाती हैं और उन्हें छोड़ते जाने से वासनाएं घटती जाती हैं। अपनी स्थूलबुद्धि से देखने पर हमारी अपनी अनेक मान्यताएं तथा मन की नाना कल्पनाएं सत्य लगती हैं, परन्तु जब किसी विवेकी-पारखी संत से उन्हें परखाते हैं, तब वे झूठी सिद्ध होती हैं॥ 1॥ कितना कहूं, समझाने की भी एक मर्यादा होती है। यदि लोगों को भला लगे तो मैं और भी कहने के लिए तैयार हूं॥ 2॥ मुझे कहे बिना रहा भी नहीं जाता है। अपने लक्ष्य से बिछुड़े हुए जीवों को मन भटका रहा है॥ 3॥

मन के छलावे में भटकते-भटकते जीव के युगों बीत गये। हे मानव! आज भी तू सावधान नहीं हो रहा है। कबीर साहेब खुलासा कहते हैं कि यह जीव असावधानी में जीवन खो रहा है॥ 79॥

व्याख्या—बीड़ी, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, सिनेमा, मैथुन—किसी प्रकार का भी भोग हो उसका निरंतर उपभोग करते रहने से वासनाएं बढ़ती हैं। वासनाएं जितनी बढ़ती हैं, मन उतना अशांत होता है। भोगों को भोगने से

वासनाएं बढ़ती हैं तथा वासनाओं के बढ़ने से मनुष्य भोगों में अधिक पतित होता है। इसका घनचक्कर तब तक चलता है, जब तक भोगों का त्याग नहीं किया जाता। जब विवेक कर भोगों का त्याग किया जाता है, तब वासनाएं घट जाती हैं और भोगों के सर्वथा त्याग एवं विवेक की जागृति से वासनाएं एकदम समाप्त हो जाती हैं। इसको इस प्रकार सहज समझ सकते हैं कि पचास वर्ष से तम्बाकू का सेवन करने वाला व्यक्ति जो उसके बिना आधा दिन भी नहीं रह पाता था, जब उसे दुखदायी समझकर छोड़ देता है और धीरे-धीरे उसकी आदत मिट जाती है तब उसे तम्बाकू की गंध भी नहीं सहन होती। कोई मनुष्य अविवेकवश किसी मनुष्य में राग करने लगता है, तो निरंतर राग बढ़ाते-बढ़ाते वह उसको देखे बिना नहीं रह पाता। परन्तु जब किसी कारणवश या विवेक से उसका राग छोड़ देता है, तब उससे मिलने का मन में कोई आकर्षण ही नहीं रह जाता। अतएव "बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी" यह महावाक्य आदतों तथा वासनाओं के विषय में अत्यन्त सटीक है। सद्गुरु इस अर्धाली को कहकर यह सिद्ध कर देते हैं कि बुरी आदत और वासना जो मुख्य माया है, वह तुम्हारे हाथों में है। तुम चाहो तो वह बढ़ती रहे और चाहो तो घट जाये और समाप्त भी हो जाये। वह न तो किसी भगवान के अधीन है और न शैतान के। वह तुम्हारे ही ज्ञान तथा अज्ञान पर निर्भर है।

"परखत खरी परखावत खोटी" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। हमारी अपनी कितनी मान्यताएं होती हैं जो हमें पूर्ण सच लगती हैं, परन्तु जब हम उन्हें किसी महापुरुष के सामने रखते हैं और वे हमें उनकी परख कराते हैं तब असत्य ठहरती हैं। अतएव सत्यज्ञान का जिज्ञासु वही माना जा सकता है जो सदैव विनयी हो। सावधान पुरुष अपनी हर बात को ताल ठोंककर सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। जिसका ज्ञान जितना कम होता है, उसका अपने ज्ञान के प्रति उतना ही अधिक अहंकार होता है। कुछ लोग अपने अधकचरे ज्ञान की डींग हांकते रहते हैं और वे अड़ जाते हैं कि यही सच है, जबकि उन्हें उस विषय में सांच-झूठ का कुछ पता नहीं रहता।

समझदार मनुष्य अपनी भाषा नम्र रखता है। वह किसी विषय में बात चलने पर प्रायः कहता है कि मैं इसे इस प्रकार समझता हूं। वह सबकी राय को विनयपूर्वक सुनता है और उन्हें समझने की चेष्टा करता है तथा उनसे अपनी राय की तुलनाकर उसे शोधता है। संयत और अनुभवी लोगों से सही राय तो मिलती ही है, अपने से छोटे लोगों से भी सही राय मिलती है, यदि हम विनयपूर्वक सर्वत्र ज्ञान ग्रहण करना चाहें तो।

मनुष्य के अपने आज के कई निष्कर्ष कल उसे ही गलत लगते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञान के विषय में गर्व करने की गुंजाइश कहां है! मनुष्य को जीवनपर्यंत सीखना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य अपने हर निर्णय को हर समय संदिग्ध समझे। कुछ निर्णय तो चांद-सूरज के समान एकदम प्रकाशस्वरूप होते हैं। उन पर संदेह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं होती। ऐसे निर्णयों पर दृढ़-विश्वास होने पर भी बाहर से उसकी सत्यता की दुंदुभी बजाने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि एक निर्णय सभी को समान प्रिय नहीं होता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने निर्णयों के विषय में अनुभवी पुरुषों से राय लेते रहो।

"केतिक कहौं कहाँ लौं कही" संसार में एक तो आध्यात्मिक ज्ञान सुनने की जिज्ञासा कम लोगों में होती है। दूसरी बात, जो लोग सुनते हैं, वे सब अपने जीवन में अपेक्षित सुधार नहीं लाते। इसलिए उपदेष्टा अपने आप पर ही खीज उठता है। वह कहता है कितना बक-बक किया जाये। उपदेश करने की भी तो हद होती है। जब लोग सुनकर भी उसके अनुसार जीवन नहीं बनाते तब अधिक कहकर क्या होगा ! परन्तु कबीर साहेब थकते नहीं हैं। वे कहते हैं कि "औरों कहौं पड़े जो सही" यदि तुम्हारे लिए ठीक साबित हो तो मैं आगे भी कहने के लिए तैयार हूं। विवेकवान समझते हैं कि संसार के लोग भोलापन कर रहे हैं। यदि वे अपना अपेक्षित सुधार नहीं करते हैं, तो भी सच्चर्चा से उनका कुछ हित होगा ही। यदि आदमी सुनने की श्रद्धा रखता है, तो इतना भी बहुत है। उसको सुनाना चाहिए। यदि बहुत सुनेगा, तो कुछ तो करेगा ही। यदि कुछ नहीं कर सकेगा, तो जब तक अच्छी बात सुनेगा तब तक तो उसका मन अच्छा रहेगा ही। ऐसे ही धीरे-धीरे आदमी सुधरता है।

"कहे बिना मोहि रहा न जाई" सद्गुरु कहते हैं कि मेरी अपनी मजबूरी भी है। मैं किसी का अनर्थ देखकर चुप भी नहीं रह सकता। मैं कहूंगा अवश्य, चाहे अगला आदमी न भी सुनना चाहे। वह नहीं सुनना चाहेगा तो मैं जाते हुए उसे पुकारकर कहे जाऊंगा। तभी तो कबीर साहेब अपनी पूरी वाणियों में बारम्बार कहते हैं "कहहिं कबीर पुकारि के"। संसार के शायद किसी वक्ता ने पुकारकर नहीं कहा है। लगता है दुनिया में केवल कबीर साहेब अकेले हैं जो 'पुकारकर' कहते हैं। संसार में अन्य विद्वान एवं संत प्रायः 'लिखते हैं' किन्तु कबीर साहेब 'कहते' हैं। लिखने और कहने में बड़ा अन्तर होता है। लिखा जाता है निर्जीव कागज पर, परन्तु कहा जाता है चेतन मानव से। इसलिए लिखने से कहने का वजन ज्यादा होता है। लेखक तो केवल अपने मन की ही बात लिखता है, परन्तु कहने वाला सुनने वाले से भी प्रेरित होकर कहता है। कबीर साहेब कहते हैं, मैं कहूंगा अवश्य चाहे तुम सुनो या न सुनो। बारम्बार कहने पर कभी सुनोगे ही और सुनकर कभी कुछ भी पल्ले पड़ गया, तो तुम्हारा कुछ-न-कुछ कल्याण होगा ही।

"बिरही ले ले कूकुर खाई" मानो किसी व्यक्ति ने बेरहि (दलभरी पूरी) बनायी थी। उसे ले-लेकर कुत्ता खा गया। यहां दलभरी पूरी तथा साधारण कुत्ते से मतलब नहीं है। जीव अविवेकवश विरही है। विरही उसे कहते हैं जो अपनी प्रिया के वियोग में पीड़ित हो। जीव की अत्यन्त प्रियतमा शांति एवं मुक्ति है। शांति या मुक्ति न दो चीज है और न जीव से अलग कोई वस्तु है। किन्तु जीव अज्ञानवश समझता है कि शांति से मैं अलग हो गया हूं, परमात्मा, ब्रह्म या मोक्ष मुझसे अलग है। यह सब अज्ञान का फल है। जीव की स्वरूपस्थिति से अलग शांति, मोक्ष, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि सब शब्दजाल है। जीव का जो अपना है, वह उससे कभी बिछुड़ा ही नहीं है। बिछुड़ नहीं सकता। जीव अज्ञानवश अपने लक्ष्य को अपने से बाहर खोजता है—कभी विषयों में, कभी मन की अवधारणाओं में। परन्तु जब उसे स्वरूपज्ञान को परखाने वाले पारखी संत मिल जाते हैं। और उसे परखा देते हैं कि जिसे तू खोजता है वह तू ही है, तो वह कृतार्थ हो जाता है।

परन्तु जो विरही है, अपने आप को मानता है कि मैं मोक्ष या परमात्मा से अलग हो गया हूं, या अलग हूं, उसे ले-लेकर कूकुर खाता है। अर्थात उसे बारम्बार मन भवचक्कर में डालता है। वह मन से एक मोक्षधाम बनाता है या एक ईश्वर का रूप गढ़ता है और फिर उसकी कल्पना में डूबता है। वह केवल मन का व्यायाम होने से बाहर से कुछ प्राप्त नहीं होता और जीव सदैव वियोगजनित पीड़ा में तड़पता है। अच्छे-अच्छे लोग भगवान पाने के लिए रोते हैं। वे व्याकुल होकर कहते हैं कि आज तक मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए। वे कितने भोले हैं। 'परमात्मा के दर्शन' यह कितना झूठा वाक्यांश है। जिसके दर्शन होते हैं वह तो रूप विषय है। यदि मन से कुछ दर्शन होते हैं, तो वह मन की कल्पना है—"जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि। ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहिं"[1] वाली बात है। अतएव विरहियों को, जो अपने आप को परमात्मा या मोक्ष से बिछुड़े हुए मानते हैं, मन सदैव कल्पनाओं में भटकाता है।

"खाते खाते युग गया" सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मन के भटकावे में तुम्हारा अनादिकाल का समय बीत गया। तुम अपने स्वरूप को न समझकर सदैव परमात्मा खोजने के चक्कर में समय गंवाते रहे। "बहुरि न चेतहु आय" सद्गुरु कहते हैं अब तो जग जाओ न! कबीर साहेब अपनी स्टाइल में वही बात कहते हैं जिसकी अभी कुछ पूर्व चर्चा कर आये हैं—"कहहिं कबीर पुकारि के, ये जीव अचेतहिं जाय॥" वे पुकारकर कहे जा रहे हैं कि यह जीव

1. बीजक, साखी 279।

असावधानी ही में समय खो रहा है। वह अलग सुख, शांति एवं परमात्मा खोज रहा है। यह सबसे बड़ी असावधानी है। क्योंकि वह तो दिलदरगाह की वस्तु है। उसे खोजना कहां है ! वह तो अपना स्वरूप ही है।

इस प्रकार सद्गुरु इस रमैनी में मुख्य तीन बातें बताते हैं, (1) वासनाएं भोगों को भोगने-न भोगने से बढ़ती-घटती हैं, अतः वे तुम्हारे अधीन हैं। तुम चाहो तो भोगों को त्यागकर वासनाओं से मुक्त हो सकते हो; (2) ज्ञान के लिए सदैव जिज्ञासु रहो, विनयभाव से महापुरुषों से राय लो तथा (3) परमात्मा या मोक्ष बाहर मत खोजो, किन्तु अपने आप को पहचानो।

रमैनी-80

बहुतक साहस करु जिय अपना। तेहि साहेब से भेंट न सपना॥ 1॥
खरा खोट जिन नहिं परखाया। चाहत लाभ तिन्ह मूल गमाया॥ 2॥
समुझि न परलि पातरी मोटी। ओछी गाँठि सबै भौ खोटी॥ 3॥
कहहिं कबीर केहि देहो खोरी। जब चलिहो झिझि आसा तोरी॥ 4॥

शब्दार्थ—तेहि साहेब=ईश्वर। खरा=सत्य। खोटा=असत्य। मूल= स्वरूप विचार, मानवता। पातरी=झीनी माया, मन की कल्पित अवधारणाएं। मोटी =मोटी माया, सांसारिक प्राणी-पदार्थ। ओछी=तुच्छ। गाँठि=मानसिक ग्रंथि, आसक्ति। खोटी=दोषजनक। खोरी=दोष। झिझि=झीनीमाया, मन का मोह।

भावार्थ—हे मानव ! तुम अपना कितना ही साहस करो, परन्तु उस कल्पित ईश्वर से तुम्हारी भेंट स्वप्न में भी नहीं होगी॥ 1॥ जिन्होंने पारखी संतों से मिलकर सत्य और असत्य की परख नहीं की-करायी, वे भले लाभ चाहते हैं; परन्तु अपना मूल भी खो बैठते हैं॥ 2॥ क्योंकि ऐसे लोगों को झीनी माया और मोटी माया समझने में नहीं आती। जहां तक मन की ग्रंथियां हैं, राग-द्वेष हैं, सब संसार के तुच्छ पदार्थों को लेकर बनते हैं, वे सब सन्मार्ग में दोषजनक ही ठहरते हैं॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं तुम उस समय किसके मत्थे दोष मढ़ोगे जब मन की आशा रूपी रस्सी विवशतापूर्वक तोड़कर बिना लक्ष्य प्राप्त किये संसार से विदा होने लगोगे !॥ 4॥

व्याख्या—"बहुतक साहस करु जिय अपना। तेहि साहेब से भेंट न सपना॥" यह बड़ी क्रांतिकारी पंक्ति है। जिस भावधारा में करोड़ों-करोड़ों लोग बह रहे हैं, वह भले ही अलीक हो, उसके विरोध में इतना खुलासा कह देना बहुत बड़ी हिम्मत का काम है। वस्तुतः खुलासा कहे बिना मन का मोह टूटता नहीं। जब तक आदमी गलत दिशा से लौटता नहीं, तब तक उसे सही दिशा मिल नहीं सकती। लोग साहेब को, ईश्वर, परमात्मा एवं ब्रह्म को बाहर खोजते

हैं। वे समझते हैं कि जैसे हम अपने पत्नी, बच्चों, मित्र एवं साथियों से मिलते हैं, उन्हें आंखों से देखते हैं, उनसे गले मिलते हैं, वैसे ईश्वर से भी मिल जायेंगे। उसे आंखों से देख लेंगे। उससे लिपटकर शीतल हो जायेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा साहस मात्र है।

महाकाव्यों और पुराणों में ऐसी बातें लिखी गयी हैं कि अमुक व्यक्ति तप कर रहा था। उसकी तपस्या से ईश्वर प्रसन्न होकर उसके सामने आकर खड़ा हो गया। तपस्वी दर्शन पाकर उसके चरणों में लिपट गया और कृतार्थ हो गया। भारत में आज से पूर्व करीब दो हजार वर्ष से भगवान आकाश-मार्ग से आ-आकर अपने भक्तों को दर्शन दे रहा है। क्योंकि प्रायः ईसापूर्व बने धर्मग्रन्थों में ऐसा लिखा नहीं मिलता कि कोई भगवान या ईश्वर आकर किसी भक्त को दर्शन देता है। ये ईश्वर-दर्शनों की भरमार ईसाकाल के बाद के पौराणिक ग्रन्थों में है। महाकाव्यों, पुराणों तथा भक्तिकाव्यों के माध्यमों से महात्मा तथा पंडितों ने जनता को ईश्वर-दर्शन-सनक की ऐसी घुट्टी पिलायी है कि उसमें जनता दिग्भ्रमित होकर भटक रही है और वह ईश्वर-दर्शन के लिए तावबावला है।

सद्गुरु कहते हैं कि जिसे तुमने ईश्वर मान रखा है, उससे तुम्हें स्वप्न में भी मुलाकात नहीं हो सकती। अर्थात वह कदापि नहीं मिल सकता। दर्शन तथा मुलाकात की बात कहकर हम ईश्वर को भौतिक बना देते हैं। जिसके दर्शन होते हैं वह रूप विषय है और जो कुछ मिलता है वह सब भौतिक है। मान लो, कोई ईश्वर आकर मुझे मिल जाये, तो क्या होगा? वह पुनः लौट जायेगा। क्योंकि मिली हुई वस्तु बिछुड़ती अवश्य है। मिला हुआ ईश्वर बिछुड़ेगा अवश्य। मुझे पूर्ण तृप्ति ऐसे ईश्वर से मिलेगी जो मुझसे कभी बिछुड़ा ही न हो और इसलिए उससे मिलने के भ्रम को पालना ही न हो। वह ईश्वर है मेरी अपनी आत्मा। अपना स्वरूप अपने से कभी बिछुड़ने वाला नहीं है। हम स्वरूप-विवेक से रहित होने से बाहर ईश्वर खोजते हैं और केवल भटकते हैं।

"खरा खोट जिन नहिं परखाया। चाहत लाभ तिन्ह मूल गमाया॥" सत्य-इच्छुक को चाहिए कि वह विवेकी-पारखी संतों के पास जाये और उनसे चर्चा कर सत्य तथा असत्य की परख करे। जिन्होंने पारखी सद्गुरु-संतों से अपने विचारों के विषय में परख नहीं करवायी, वे धोखे में हैं। तुम अपने सारे विचारों को स्वयं परखो तथा विवेकियों से परखाओ। आंख मूंदकर मानने की आदत छोड़ो, किन्तु हर बात की खूब छानबीन करो। अन्वीक्षण, परीक्षण तथा परख से ही सत्य क्या है तथा असत्य क्या है इसका निर्णय होता है। जो ऐसा नहीं करते वे लाभ तो चाहते हैं, परन्तु उनकी मूल पूंजी भी खो जाती है। वे चाहते हैं कि

हमें परमात्मा या मोक्ष मिल जाये, परन्तु वे अपने स्वरूप के विचार से ही वंचित रह जाते हैं। मूल धन न हो तो लाभ किस आधार पर होगा। यदि अपने स्वरूप का ही ज्ञान न हो तो परमात्मा या मोक्ष मिलने का मतलब क्या हो सकता है!

पहले तो मैं यह समझूं कि मैं कौन हूं। मेरे अपने 'स्व' एवं 'आत्म-अस्तित्व' का बोध हो जाने पर परमात्मा या मोक्ष उसमें अपने आप घटित हो जायेगा। स्वरूपज्ञान हो जाने पर जब स्वरूपस्थिति होती है, तब यही परमात्मा या मोक्ष का पाना है। क्योंकि व्यक्ति की अपनी आत्मा के अलावा न कहीं परमात्मा है न मोक्ष। बस, स्वरूपस्थिति ही परमात्मा है, यही मोक्ष है, अतएव स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति हो जाने पर कुछ बाकी नहीं रहता।

"समुझि न परलि पातरी मोटी" जो लोग न स्वयं परख करते हैं और न किसी अनुभवी संत पुरुष से परख कराते हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि मोटी माया तथा झीनी माया क्या है! स्थूल पदार्थ, धन, घर, ऐश्वर्य, मठ, मन्दिर आदि मोटी माया है, यह समझ में आ भी जाये तो भी झीनी माया समझना कठिन है। "मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय। पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय॥" झीनी माया है मन की वे मान्यताएं जिनसे जीव स्वरूप-विवेक छोड़कर बाहर भटकता है। अपने आप को पूर्णकाम शुद्ध चेतन न समझकर, कुछ अन्य समझना झीनी माया है। "मैं अपूर्ण हूं, मेरा मालिक कोई अन्य है, मैं अंश, प्रतिबिम्ब एवं आभास हूं, मैं बुंद हूं और मुझे किसी समुद्र में मिलना है, मेरा प्राप्तव्य मेरी आत्मा से अलग है।" इत्यादि मानना झीनी माया है।

झीनी माया की दूसरी भी व्यंजना है जो व्यावहारिक है। धार्मिक क्षेत्र में आकर नाना पद, अधिकार एवं मर्यादा के मान-सम्मान की वासना रखना झीनी माया है। साधु-महंत स्थूल भोगों को छोड़ देते हैं, परन्तु उनमें से कितने लोग उक्त झीनी माया में इतने उलझ जाते हैं कि उनको क्षण-क्षण मान-अपमान का अनुभव होता रहता है। इसको लेकर वे राग-द्वेष के चक्कर में पड़ जाते हैं और उनका पूरा जीवन बहुत अधिक उलझ जाता है। "भोजन करते समय किसका पाटला एक इंच ऊंचा रहा, भोजन की थाली पहले किसके लिए आयी, पूजा में दायें तथा बायें कौन बैठा, आगे एवं पीछे कौन बैठा, अग्रपूजा किसकी हुई?" इनको लेकर केवल मर्यादा के निर्वाह का उद्देश्य नहीं रहता, किन्तु राग-द्वेष, छल-छद्म भी होते हैं, मन में उलझनें ही नहीं, किन्तु समाज में भी उलझनें होती हैं। यह तो भूल ही गया कि मैं एक कल्याण-साधक एवं समाज-सेवक हूं।

मोटी माया स्थूल-इंद्रिय भोग तथा झीनी माया मन की नाना मान्यताएं, इन दोनों को तभी समझकर उनसे बचा जा सकता है जब विवेकवान, अनुभवी एवं रहनीसम्पन्न संतों एवं सद्गुरु से इस पर विचार-विमर्श करते रहें तथा स्वयं अपने मन में सावधान रहें।

"ओछी गाँठि सबै भौ खोटी" सद्गुरु कहते हैं कि उक्त सारी मानसिक ग्रन्थियां तुच्छ हैं और अपने कल्याण-मार्ग में दोषरूप बनकर अवरोधक हैं। सद्गुरु के इन वचनों से मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मोटी-झीनी माया में आसक्त होकर हमारे मन में जितनी ग्रन्थियां बनती हैं, जैसे राग-द्वेष, वैर-मोह आदि सब हमारे विचारों की तुच्छता के द्योतक हैं। अथवा संसार के तुच्छ पदार्थों को लेकर ही तो राग-द्वेषादि की सारी मानसिक ग्रन्थियां बनती हैं। हम भूलवश जीवन भर राग-द्वेष के महान भ्रम पाले रहते हैं। हम माने रहते हैं कि अमुक मेरा बड़ा प्यारा है तथा अमुक बड़ा घृणास्पद है। परन्तु हम यह समझ लें कि यह सब केवल हमारे मन की भ्रमजन्य मान्यताएं हैं। इस जीव का न कोई वैरी है और न मित्र। यह अकेला आया है और अकेला जायेगा। दो दिन के सम्बन्ध में हम किसी से वैर तथा मोह का जंजाल न पालें; किन्तु सबसे शुद्ध प्रेम-भाव का बरताव करते हुए जीवन व्यतीत करें।

"कहहिं कबीर केहि देहो खोरी। जब चलिहो झिझि आसा तोरी॥" यदि आदमी मानसिक ग्रन्थियों में जीवनभर उलझा रहा और जीवन के आखिर तक यही दशा रही, तो जब यहां से जाने का समय हो जायेगा और मन में लगी हुई सारी आशाओं को विवशतापूर्वक तोड़कर जाना पड़ेगा, तब वह किसको दोष देगा कि अमुक के कारण मेरा कल्याण नहीं हुआ !

आदमी जीवनभर अंधेरे में रहता है। वह संसार से बड़ी-बड़ी लम्बी आशाएं बनाकर रखता है। पति, पत्नी, पुत्र, भाई, माता-पिता, मित्र तथा अन्य अनेक लोगों से पता नहीं क्या-क्या कामनाएं बनाकर रखता है। उसे अपने जीवन में लम्बे-लम्बे सुखों की आशा रहती है। परन्तु इन सब आशाओं पर तो पानी फिरता ही है। ऐसे लोग जीवन के आखिर में बड़े निराश होते हैं। जो व्यक्ति जितना ही माया-मोही होता है, वह उतना ही अन्त में निराश होता है। दुनिया स्वयं नंगी है। यह हमें क्या दे सकती है ! जिसने अपने मन की ग्रन्थियों को पहले ही नहीं तोड़ दिया है, वह अन्त समय में पछतायेगा। सद्गुरु कहते हैं कि अंत में तुम किसको दोष दोगे? दोष तो तुम्हारा है कि स्ववश अवस्था में तुम माया के प्रमाद में उन्मादी बने रहे। जीवन की सारी शक्ति विषय-भोग, जगत-प्रपंच तथा राग-द्वेष में क्षीण कर दिये। अब मरते समय क्या बनने वाला है ! तस्मात् जाग्रत् जाग्रत् !

उपासना मलिन देवों की नहीं, निर्मल संतों की करो

रमैनी-81

देव चरित्र सुनहु हो भाई। जो ब्रह्मा सो धियेउ नसाई॥ 1॥
दूजे कहौं मंदोदरि तारा। जेहि घर जेठ सदा लगवारा॥ 2॥
सुरपति जाय अहिल्या छरी। सुर गुरु घरणि चन्द्रमें हरी॥ 3॥
कहहिं कबीर हरि के गुण गाया। कुन्तिहि कर्ण कुँवारेहि जाया॥ 4॥

शब्दार्थ—चरित्र=आचरण। धियेउ=पुत्री को। लगवारा=जार। सुरपति=इन्द्र। सुर गुरु=बृहस्पति। घरणि=गृहिणी, पत्नी। हरि=विष्णु या सूर्य।

भावार्थ—हे भाई! देवताओं के चरित्र तो सुनो। जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा थे, उनकी अपनी पुत्री के साथ ही मति भ्रष्ट हुई॥ 1॥ दूसरी घटना मंदोदरी तथा तारा की है जिनके घर में क्रमशः देवर विभीषण एवं सुग्रीव जेष्ठ-श्रेष्ठ जार बने रहे॥ 2॥ देवपति इन्द्र ने गौतम का छद्म वेष बनाकर अहल्या के साथ छल किया। देवताओं के गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को चन्द्रमा ने अपने घर में बलपूर्वक रखकर उनसे बुध को पैदा किया॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि विष्णु का लोग बहुत भजन-पूजन करते हैं, परन्तु उन्होंने पतिव्रता वृन्दा का सतीत्व छल करके नष्ट किया। और सूर्य ने कुंआरी कुन्ती से कर्ण को पैदा किया॥ 4॥

व्याख्या—श्री मद्भागवत के तीसरे स्कंध के बारहवें अध्याय में ब्रह्मा का अपनी पुत्री सरस्वती पर काम-मोहित होकर पथभ्रष्ट होने का उल्लेख है। मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में भी ब्रह्मा के लिए कुछ ऐसी ही बातें बतायीं गयी हैं। यह ब्रह्मा की दशा है।

मंदोदरी और तारा

मंदोदरी और तारा को किसी पण्डित ने शायद व्यंग्य में पंचकन्याओं[1] में गिन लिया है। मंदोदरी और तारा दोनों ही पहले रावण तथा वाली के साथ थीं, पीछे विभीषण और सुग्रीव के साथ। गोस्वामी जी ने मानस में राम की दयालुता का वर्णन करते हुए कहा है—

जेहि अघ बध्यो व्याधि जिमि बाली। सोइ सुकंठ पुनि कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

---

1. अहल्या द्रोपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पंचकन्यां स्मरेन्नित्यं महापातक नाशिनी॥
उक्त पांचों ही कन्याएं नहीं थीं, किन्तु स-पतिक थीं और एक से अधिक पुरुषों से जुड़ी थीं।

इन्द्र और अहल्या

अहल्या वृद्धाश्व की पुत्री कही जाती है। यह गौतम ऋषि की पत्नी थी। इसकी सुन्दरता पर मोहकर देवों के राजा इन्द्र ने गौतम की अनुपस्थिति में उन्हीं का वेष बनाकर अहल्या के साथ छल किया। यह कथा के रूप में महाभारत, वाल्मीकीय रामायण आदि में प्रचलित है।

चन्द्रमा

चन्द्रमा महर्षि अत्रि के पुत्र हैं और अत्रि ब्रह्मा के। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें बहुत-से लोग निमंत्रण में आये थे। देवों के गुरु बृहस्पति की पत्नी 'तारा' भी निमंत्रण में आयी थीं। चन्द्रमा उनमें मोह गये। यज्ञ हो जाने के बाद जबकि सब निमंत्रित लोग अपने-अपने घर लौट गये थे, बृहस्पति के बहुत कोशिश करने पर भी चन्द्रमा ने तारा को नहीं लौटाया। चन्द्रमा के वीर्य से तारा को गर्भ रह गया।

असुर-गुरु शुक्राचार्य तथा देव-गुरु बृहस्पति में पहले से अनबन रहती थी। शुक्राचार्य ने असुरों को संकेत कर दिया और देवासुर संग्राम छिड़ गया। अंगिरा ने यह बात ब्रह्मा को बतायी। ब्रह्मा ने जाकर अपने पोते चन्द्रमा को बहुत फटकारा और गुरु-पत्नी तारा बृहस्पति को लौटा दी गयी। परन्तु तारा से बुध नाम का बच्चा पैदा हो चुका था। बृहस्पति उसको चाहते थे। किन्तु चन्द्रमा ने बुध को नहीं दिया। भागवत के नवें स्कंध के चौदहवें अध्याय में इसका वर्णन है।

विष्णु

विष्णु ने जलंधर की पतिव्रता पत्नी का सतीत्व छल करके नष्ट किया था। जब वृन्दा को पता चला कि यह मेरा पति नहीं किन्तु विष्णु है, तब वह उस पर कुपित हो गयी और उसने विष्णु से कहा—"हे विष्णु! तेरे परस्त्रीगामी रूप आचरण को धिक्कार है। मैं तुम्हें समझ गयी। तुम देखने में साधु, किन्तु आचरण में धूर्त हो। हे दैत्यों के शत्रु, महा अधम तथा दूसरे के सदाचरण बिगाड़ने वाले शठ! मेरे दिये हुए भयंकर शाप को स्वीकार करो।"[1]

---

1. धिक् तदेवं हरे शीलं परदाराभिगामिनः।
ज्ञातोऽसि त्वं मयासम्यङ् मायी प्रत्यक्ष तापसः॥
रे महाध्म दैत्यारे परधर्मविदूषकः।
गृह्णीस्व शठ मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्वणम्॥

(रुद्रसंहिता, युद्ध खंड, अध्याय 24, हिन्दू जाति का उत्थान और पतन, पृष्ठ 169, संस्करण 1981)

कुन्ती

कुन्ती ने दुर्वासा ऋषि की कृपा से 'देवहूती' नाम की एक विद्या प्राप्त की थी। उस मंत्र से किसी को बुलाया जा सकता था। उसकी परीक्षा के लिए कुन्ती ने सूर्य[1] को निमंत्रित किया। सूर्य आये। कुन्ती ने कहा—मैंने केवल अपने मंत्र का परीक्षण करना चाहा था। वह हो गया। कृपया आप जायें। सूर्य ने कहा—मेरा आना निष्फल नहीं जाना चाहिए। अंततः सूर्य ने कुन्ती को गर्भवती कर दिया। कुन्ती तब तक कुंआरी थी। उसका विवाह भी नहीं हुआ था उसको जब बच्चा पैदा हुआ, तब उसने उसको एक पेटी में रखकर नदी में तैरा दिया। उस बच्चे को अधीरथ ने पाया। वह उसे पाला-पोसा। वही बच्चा कर्ण के नाम से प्रख्यात हुआ। इस प्रकार कुन्ती ने कर्ण को अपनी कुंआरी दशा में ही जन्म दिया था। पीछे कुन्ती पांडु को ब्याही गयी। कुन्ती ने धर्मराज से नियोग कर युधिष्ठिर को, वायु से भीम तथा इन्द्र से अर्जुन को जन्म दिया।

शतपथ ब्राह्मण (1/7/4/1) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (13/9) के अनुसार प्रजापति ने अपनी पुत्री 'उषा' से संभोग किया। इसे विद्वानों द्वारा एक रूपक अलंकार माना जाता है। प्रजापति सूर्य है। उषा सुबह की लालिमा है। उसके पीछे सूर्य जाता है। सूर्य से ही उषा पैदा होती है और सूर्य के पूर्ण आगमन से उषा पतित (नष्ट) हो जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन भी आलंकारिक ही लगता है।

शतपथ ब्राह्मण (3/3/4/18) में इन्द्र को अहल्याजार कहा गया है। कुमारिल तथा स्वामी दयानंद सरस्वती आदि विद्वान अहल्या का अर्थ 'रात' करते हैं, जिसमें 'अह' (दिन) 'ल्या' (लीन-समाप्त) रहता है। इन्द्र का अर्थ सूर्य है। जार कहते हैं जीर्ण, अंतर्धान एवं समाप्त करने वाले को। इन्द्र अहल्या पर जार कर्म करता है। अर्थात सूर्य रात को समाप्त करता है। गौतम अहल्या का पति है। इसका अर्थ है चन्द्रमा रात का नायक है। चन्द्रमा को यहां गौतम=तेज चलने वाला कहा गया है।

इस प्रकार प्रजापति (ब्रह्मा) का पुत्री-गमन तथा इन्द्र का अहल्या से जारत्व जैसे कि ऊपर बताया गया है कि कुछ विद्वान उन्हें रूपक मात्र मानते हैं।[2] अतः वे कोई दोषयुक्त घटनाएं नहीं थीं। किन्तु पौराणिक कहते हैं कि इस प्रकार यदि हम पुराणों की कुछ कथाओं को रूपक मानेंगे तो अन्य कथाओं की

---

1. यहां चन्द्रमा तथा सूर्य के उद्धरण व्यक्ति के रूप में आये हैं। ये आकाश में चमकते हुए जड़ चन्द्रमा-सूर्य नहीं हैं।
2. प्रजापति, इंद्र आदि के विषय में ऐसे कथन वेदों में रूपक मात्र ही हैं। इस विषय तथा वेदों के रहस्य को समझने के लिए लेखक की पुस्तक 'वेद क्या कहते हैं?' पढ़िए।

क्या दशा होगी? वे भी रूपक मात्र बन जायेंगी और सारे पुराण ही स्वप्नलोक की परी-कथा बन जायेंगे। अतः पौराणिकों के ख्याल में इनमें कुछ रूपक नहीं। सब घटी घटनाएं हैं।

कबीर साहेब का कहना है कि यदि देवता रूपक मात्र हैं तो उनकी पूजा का कोई अर्थ नहीं है और यदि देवता व्यक्ति हैं तो उनके उक्त मलिन आचरण को देखते हुए वे पूजा के अयोग्य हैं। मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबकर पतित है। उसे अपने कल्याण के लिए उनकी पूजा-उपासना करना चाहिए जो विषयों से विरक्त एवं सदाचार से सम्पन्न हैं; और वे हैं संत-गुरु जन। अतएव देवी-देवताओं को छोड़ो। निर्मल संत-सद्गुरु के चरणों की सेवा में लगकर अपना उद्धार करो।

सुख के लिए बनायी गयी दुनिया का व्यामोह

रमैनी-82

सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया। समुझि न परलि विषय कछु माया॥ 1॥
छौ छत्री पत्री युग चारी। फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी॥ 2॥
स्वाद अनन्त कछु वर्णि न जाई। करि चरित्र सो ताहि समाई॥ 3॥
जो नटवट साज साजिया। जो खेलै सो देखै बाजिया॥ 4॥
मोहा बापुरा युक्ति न देखा। शिव शक्ति विरंचि नहिं पेखा॥ 5॥
साखी—परदे परदे चलि गई, समुझि परी नहिं बानि।
जो जानै सो बाँचिहैं, नहिं तो होत सकल की हानि॥ 82॥

शब्दार्थ—जगत्र=जगत, दुनिया। छौ छत्री=छः चक्रवर्ती राजे—शिवि, सुहोत्र, मांधाता, नहुष, मरुत तथा पृथु। पत्री=पत्रा-पुस्तक बांचने वाले ब्राह्मण एवं विद्वान। युगचारी=पूर्व के सब काल में। अधिकारी=योग्य, पात्र। चरित्र=आचरण। नटवट=नट एवं अभिनेता के समान। साज=शृंगार। बाजिया=बाजी, करतब। बापुरा=बेचारा, दीन। युक्ति=समुचित विचार। पेखा=देखा। परदे-परदे=मोह के आवरणों में। बानि=आदत, स्वभाव।

भावार्थ—मनुष्य अपनी मान्यता की दुनिया बनाकर अपने लिए सुख का एक वृक्ष खड़ा करता है। परन्तु उसे यह नहीं समझ में आता कि यह विषय-वासनाओं में फंसना ही माया का बन्धन है॥ 1॥ इन विषय-वासनाओं में फंसकर पूर्व-काल में बड़े-बड़े राजे-महाराजे तथा विद्वान लोग भी पाप और पुण्य कर उनके फल में दुख एवं सुखों को भोगने के पात्र होते रहे, फिर साधारण की तो दशा ही क्या है!॥ 2॥ मनुष्यों का मूढ़ मन विषयों में अनन्त सुख मानता है और उसे वह वर्णनातीत समझता है। अतएव वह अच्छे-बुरे

आचरण कर उन्हीं विषयों में सदैव लीन रहता है॥ 3॥ जो अभिनेता के समान नकली शृंगार सजाकर विषय के खेल खेलते हैं और इसी में अपने करतब देखते हैं अर्थात इसी में अपनी विशेषता मानते हैं, वे बेचारे माया में विमोहित हैं। वे समुचित विचार नहीं कर सके। केवल देवी-देवताओं की उपासना से कल्याण समझते हैं। वे यह नहीं समझ सके कि शिव, शक्ति, ब्रह्मादि भी माया में विमोहित होकर पतित हो चुके हैं॥ 4-5॥

मोह के आवरण में मनुष्य के दुराचरण चलते हैं। विषयासक्तिवश उसे अपने स्वभाव की परख नहीं होती। जो अपने अज्ञान को समझ लेते हैं, वे भव-बन्धनों से बच जाते हैं; अन्यथा सब अपने कल्याण की हानि कर रहे हैं॥ 82॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली रमैनी में बताया है कि किस तरह बड़े-बड़े देवी-देवता भी विषयों के अधीन होकर नीचे गिरते हैं। वे हमें इस संदर्भ में पुनः सावधान करते हैं। वे कहते हैं "सुख के वृक्ष एक जगत्र[1] उपाया" मनुष्य सुख के लिए अपनी एक दुनिया बनाता है, परन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि यह वैषयिक दुनिया उसके लिए माया एवं छलावा का कारण बन जाती है और वह जीवनभर उसी में छला जाता है।

मनुष्य पैदा होता है। पहले वह मासूम बच्चा रहता है, खेलता-खाता तथा पढ़ता-लिखता है। जब जवान होता है, तब वह स्वजनों के सहयोग से अपनी एक नयी दुनिया की रचना करना शुरू करता है। इस दुनिया की जड़ पुरुष के लिए पत्नी तथा स्त्री के लिए पति होता है। इसी के साथ साले, श्वशुर, सासु, साली, सरहज आदि होते हैं। फिर यह वृक्ष बढ़ना शुरू होता है और बाल-बच्चे, नाती, पोते, बेटी-दामाद और पता नहीं कहां तक जाता है। घर, धन, जमीन, पद, अधिकार कुछ जीवन के लिए आवश्यक तथा कुछ अनावश्यक प्राणी-पदार्थ बढ़ते जाते हैं। इन सबमें वह ममता तथा वैर के विकार बनाता है जो एक सिक्के के दो पहलू हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा आदि इस सुख-वृक्ष में फल-फूल लगते हैं।

जीव का, जीव को छोड़कर कुछ भी अपना नहीं है। परन्तु यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर अपने से अलग देह तथा देह-सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता का जाल बनाता है। जीव जहां तक अहंता-ममता एवं राग-द्वेष बनाता है, वहां तक उसकी अपनी दुनिया होती है। यह दुनिया वह अपने सुख

---

1. यहां जगत की जगह पर जगत्र हो गया है। मालूम होता है कि यहां किसी लिपिकार की गलती से ऐसा हो गया है और पीछे इसकी परंपरा चल पड़ी। कई पाठों में जगत ही है। वैसे अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

के लिए बनाता है। परन्तु यही दुनिया उसको निरंतर छलती है। अपने माने हुए प्राणी-पदार्थ ही हमें छलते हैं। या कहना चाहिए कि हम विजाति तथा क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता तथा राग-द्वेष की मान्यता बनाकर अपने आप को छलते हैं।

समष्टि संसार सबका एक है, परन्तु व्यष्टि संसार सबका अलग-अलग है। चांद, सूरज, पृथ्वी, हवा आदि तो सबके हैं, परन्तु हर आदमी की अपनी-अपनी दुनिया अलग-अलग होती है। उसकी अपनी बनायी हुई दुनिया ही उसे बांधती है। मनुष्य का मरना संसार की एक सहज घटना है। परन्तु जब कोई अपना माना हुआ मनुष्य मरता है, तब हम व्याकुल हो जाते हैं। सबके मकान टुटते-फूटते रहते हैं, परन्तु हमें वह एक सहज घटना लगती है; परन्तु जब हमारा माना हुआ मकान टूटता है, तब हमें पीड़ा होती है। जैसे मकड़ी अपने बनाये हुए जाल में फंस जाये, वैसे मनुष्य अपनी बनायी हुई मान्यताओं के जाल में फंस जाता है।

एक युवक और युवती रोज आमने-सामने दिखायी देते हैं। परन्तु उनमें कोई लगाव न होने से परस्पर हानि-लाभ में उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते। परन्तु जब वे एक-दूसरे से प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी की मान्यता से जुड़ जाते हैं तब एक दूसरे के लिए सुखी-दुखी होने लगते हैं।

"सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया" मनुष्य जिस मान्यता की दुनिया को बनाता है, वह उसे सुख का वृक्ष समझता है। परन्तु "समुझि न परलि विषय कछु माया" यह उसे नहीं समझ पड़ता कि यह सब इन्द्रियों के दृश्यमान विषय हैं। इनमें इच्छा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह बढ़कर हमारे दुख के कारण बनेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यही तो माया है। मन की राग-द्वेष-जनित मान्यता ही तो माया है। यही तो हमें छलती है। संसार के लोग विषयों में सुख मानकर ही तो धोखे में पड़ते हैं और जीवनभर छले जाते हैं। इस माया-मोह की जितनी वृद्धि होती जाती है, उतना ही जीवन में छल, धोखा, हिंसा, हत्या एवं सारे दुराचार बढ़ते हैं।

"छौ छत्री पत्री युगचारी" यहां 'छौ छत्री' से स्थूल अर्थ नहुष, मांधाता, सुहोत्र, पृथु, शिवि तथा मरुत इन क्षत्रिय चक्रवर्ती सम्राटों से है। परन्तु इसकी सूक्ष्म व्यंजना पूर्व के सब समय में होने वाले समस्त राजे-महाराजे की ओर है। पत्री से संकेत विद्वानों से है। युगचारी का अर्थ कल्पित चार युग नहीं, किन्तु पूरे पूर्व समय के लिए इसमें व्यंजना है। अर्थात पुराकाल से होते आये बड़े-बड़े ऐश्वर्य संपन्न क्षत्रिय रजवाड़े एवं पोथी-पत्रा, वेद-शास्त्रों के विद्वान लोग भी इस माया के व्यामोह में पड़े हुए नाना पाप-पुण्य कर्म करते रहे हैं और उनके फल में वे सुख-दुख के भागी होते रहे हैं। "फल दुई पाप पुण्य अधिकारी।"

'कृतेन हि भवेदार्यो न धनेन न विद्यया' आदमी धन, पद एवं विद्या से बड़ा नहीं होता, बड़ा होता है पवित्राचरण में चलने से। कोई राजा, सम्राट, राजनेता, ऊंचा पदाधिकारी एवं बहुत बड़ा विद्वान हो गया, तो इससे क्या होता है ! "बड़े आलिम व फाजिल हैं, मगर विषयों के वश होकर। उसी रस्ते से आ निकले, जिधर नादान घिसता है।" विशेषता तो उसकी है जो अपने आप को पहचाने, विषय-विकारों को छोड़े, मन के मोह-जाल को तोड़े और अपने स्वरूप में मन जोड़े।

'स्वाद अनन्त कछु वर्णि न जाई' भूले मानव ने विषयों का स्वाद वर्णनातीत अनंत मान रखा है। यह मान्यता ही उसे विषयों के गर्त में अधिकाधिक डुबाती है। विषयों में सुख नहीं है, किन्तु सुख का भ्रम है। जिन विषयों को भोगने की इच्छा उत्पन्न होते ही विवेक खो जाये, चंचलता उत्पन्न हो जाये, किंकर्तव्यविमूढ़ता आ जाये, भोगों के बाद क्षीणता, मलिनता एवं पश्चाताप हो, फिर पीछे इच्छा-तृष्णा की ज्वाला निरंतर जीव को झुलसाती रहे, जिससे जीव स्वरूपस्थिति एवं शांति से करोड़ों कोस दूर पड़ जाये, उन विषय-भोगों को सुखरूप मानना घोर अज्ञान के सिवा क्या है ! जीवन में स्ववशता सबसे बड़ा सुख है, परन्तु इच्छा के वश नाचने वाला आदमी स्ववश कैसे हो सकता है ! अतएव इच्छा रूपी विवशता उत्पन्न करने वाले भोग केवल दुखों के स्वरूप हैं।

"करि चरित्र सो ताहि समाई" जो मलिन भोगों में सुख-बुद्धि रखता है, उसके सारे चरित्र, सारे आचरण एवं सारे क्रियाकलाप निरन्तर विषय-भोगों के लिए ही होते हैं, वह निरन्तर विषयों में डूबा रहता है। बुद्धि के अनुसार ही इन्द्रियों का आचरण, वाणी का उच्चारण तथा मन का विहरण होता है। इसलिए जीवन में बुद्धि एवं समझ का बहुत बड़ा मूल्य होता है। बुद्धि इन्द्रिय, वाणी तथा मन का संचालन-यन्त्र होने से उसको शुद्ध करना मानव का परम कर्तव्य है।

"जो नटवट साज साजिया। जो खेलै सो देखै बाजिया॥" नट एवं अभिनेता के जितने शृंगार एवं सज्जा होते हैं, बनावटी रहते हैं। वह अपने खेल में ही अपना करतब देखता है। वह अनेक छल-कपट से अपने असली रूप को छिपाकर काल्पनिक रूप का प्रदर्शन करता है। माया में लिप्त मनुष्य की दशा कुछ ऐसी ही रहती है। वह सब समय अपनी असलियत को छिपाकर एक बनावटी चद्दर अपने ऊपर ओढ़ रखता है। बनावटी जवानी, बनावटी सौन्दर्य, बनावटी सम्पन्नता, बनावटी मर्यादा, बनावटी श्रेष्ठता आदि अपने मन का गलत आरोपण ही है। दार्शनिक दृष्टि से देखा जाये तो जो कुछ दृश्य है, मायिक है। उसमें कुछ भी जीव का नहीं है। विषय-बुद्धि से जीव उसमें मैं-मेरापन करता है। यह सब भी उसका नकली प्रदर्शन है। 'मैं शरीर हूं' यही नट-साज के

समान नकली है। नाटक में नट राजा, भिखारी तथा अन्य अनेक के स्वांग करता है, परन्तु वह स्वयं वह सब नहीं होता। उसके सारे वेष बनावटी होते हैं। इसी प्रकार जीव के शरीर तथा शरीरसम्बन्धी पिता, पुत्र, पत्नी, पति, साले, श्वसुर आदि के सारे रूप स्वांग मात्र होते हैं। जीव यह सब कुछ नहीं होता। यदि वह समझ पाता कि यह सब स्वांग मात्र है तो वह उनमें प्रभावित न होता। परन्तु वह इन सारे झूठों को सच मानता है, और इसी में अपनी बाजी समझता है। इसी स्वांग में वह खेलता है तथा अपनी बहादुरी मानता है; इसलिए रात-दिन पीड़ित रहता है।

"मोहा बापुरा युक्ति न देखा।" सद्गुरु कहते हैं कि ये बेचारे मनुष्य मोह-मूढ़ हो गये हैं। ये युक्ति नहीं देखते हैं। अर्थात इन्हें समुचित विचार के दर्शन नहीं होते। जिन्हें समुचित विचार के दर्शन हो जाते हैं उनके मन से मोह-माया उड़ जाती है। समुचित विचार का अर्थ है जड़-चेतन की, 'स्व' तथा 'पर' की साफ समझ हो जाना। जिसे जड़ से सर्वथा भिन्न अपने चेतन स्वरूप का ठीक से बोध हो जायेगा, वह कहीं माया में नहीं मोह सकता।

"शिव शक्ति विरंचि नहिं पेखा" मनुष्य स्वयं विमोहित है ही, वह विमोहित देवी-देवताओं की उपासना करता है। वह यह नहीं समझता कि इन शिव, शक्ति, विरंचि आदि देवी-देवताओं की पूजा तथा उपासना से हमारे विषय एवं मोह नहीं छूटेंगे। क्योंकि पुराणानुसार प्रायः सारे देवी-देवता मायामोह में गर्क हैं। यहां शिव, शक्ति तथा विरंचि के नाम लेकर सभी देवी-देवताओं के प्रति संकेत हैं। सद्गुरु का संकेत है कि निर्मल वैराग्य संपन्न संतों की शरण लो। उनकी उपासना करो। उनसे तुम्हें माया-मोह से छूटने की प्रेरणा मिलेगी। क्योंकि यह उच्चादर्श सन्तों के अलावा कहीं नहीं है।

"परदे परदे चलि गई, समुझि परी नहिं बानि।" परदा है मोह का आवरण। इसी के भीतर सारे मनोविकार एवं दुराचरण चलते रहते हैं। मोह के कारण ही मनुष्य अपनी गलत आदतों एवं गलत स्वभाव को समझ नहीं पाता। मोह मन की एक भ्रांति है। इस रमैनी की प्रथम चौपाई के अनुसार मनुष्य अपने लिए सुखदायी समझकर जो एक अहंता-ममता की दुनिया बनाता है, वही तो विषय का साज है, वही तो माया है। उसको सुखदायी समझना ही तो मोह है। क्योंकि उस अहंता-ममता की दुनिया से उसे सच्चा सुख न मिलकर, दुख मिलता है। वह अपने स्वविवेक, स्वरूपस्थिति एवं चिरस्थायी शांति से वंचित रह जाता है। ऐसे अपने भयंकर पतन के साज को जो सुखदायी समझता है, उसके समान मोह-मूढ़ कौन होगा !

"जो जानै सो बाँचिहै, नहिं तो होत सकल की हानि।" जो अपने मोह, अज्ञान एवं मूढ़ता को समझ जाते हैं वे उन्हें छोड़कर पतन से बच जाते हैं। शेष

लोगों का पतन तो रखा ही है। अपने अज्ञान को जान लेना ही ज्ञानमार्ग में प्रवेश है। किसी ने यूनान के महान दार्शनिक सुकरात से कहा था "आप महान ज्ञानी हैं।" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया था—"मैं अवश्य ज्ञानी हूं; क्योंकि मैं अपने अज्ञान को जान गया हूं।"

सद्गुरु इस रमैनी में यह दर्शाते हैं कि जिन बन्धनों में मनुष्य बंधा है, वे उसी के बनाये हैं। परन्तु उन्हें वह बन्धन न समझकर कल्याणदायी समझता है। यही उसका मायामोह है। मनुष्य सत्संग तथा विवेक द्वारा उन्हें समझकर उनसे सर्वथा मुक्त हो सकता है।

राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षत्रियत्व पर विचार

रमैनी-83

क्षत्री करे क्षत्रिया धर्मा। सवाई वाके बाढ़े कर्मा॥ 1॥
जिन अवधू गुरु ज्ञान लखाया। ताकर मन ताही ले धाया॥ 2॥
क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै। पाँचौ मेटि एक कै बूझै॥ 3॥
जीव मारि जीव प्रतिपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥ 4॥
हाले करे निशाने घाऊ। जूझि परे तहाँ मन्मथ राऊ॥ 5॥
साखी—मन्मथ मरै न जीवै, जीवहि मरण न होय।
शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥ 83॥

शब्दार्थ—क्षत्रिया धर्मा=युद्ध, क्रूर मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों का निरोध या संहार। अवधू=संन्यासी, त्यागी, यहां का तात्पर्य धर्मगुरु। कुटुम=इंद्रियां तथा काम, क्रोधादि। एक=जीव। हाले=शीघ्र। घाऊ=चोट। मन्मथ=जो मन का मंथनकर पैदा हो काम-क्रोधादि, मन्मथ का रूढ़ अर्थ है काम। अपन पौ=अपना स्वभाव, स्व-सत्ता।

भावार्थ—क्षत्रिय समरक्षेत्र में युद्ध करता है तो उसके पुण्य बहुत बढ़ जाते हैं। वह समर में शत्रु को जीतने पर राज्य पाता है तथा मारे जाने पर स्वर्ग पाता है—यह धर्मगुरुओं के उपदेश हैं॥ 1॥ वस्तुतः जिन धर्मगुरुओं ने अपने शिष्यों को जिस ढंग से उपदेश दिये, उनके शिष्य श्रद्धा के कारण उन्हीं बातों को लेकर अपने मन में निश्चय कर लिये॥ 2॥ वास्तविक क्षत्रिय तो वह है जो अपनी इंद्रियों तथा काम-क्रोधादिकों से युद्ध करे और पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में कर इस जीवन में जीव का साम्राज्य स्थापित करे॥ 3॥ जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे जीवों की हत्या करता है, वह मानो जान-समझकर अपने जीवन की बाजी हार रहा है॥ 4॥ वह तो थोड़ी-थोड़ी बातों में स्वार्थ-वश या उत्तेजित होकर तुरन्त दूसरे प्राणियों को अपने अस्त्र-शस्त्र का निशाना बनाकर

उनको चोट पहुंचा देता तथा हत्या कर देता है। ऐसे उन्मादी राजा बात-बात में दूसरों से युद्ध में भिड़ पड़ते हैं॥ 5॥

यदि काम-क्रोधादि मर जायें, वे न जीयें, तो जीव को अमरत्व की प्राप्ति हो। परन्तु अन्त में शून्य हो जाने वाले संसार के भोगों के प्रेमी राम को समझे बिना अपने स्वरूप-भाव को खो चले। अर्थात स्वरूप ही राम है इस तत्त्व को जाने बिना अपने आपा को विस्मृतकर बाहर राम को खोजते रह गये॥ 83॥

व्याख्या—क्षत्रिय एवं राजन्य का धर्म है कि वह प्रजा की रक्षा करे। क्षत (चोट) से त्राण (रक्षा) करना क्षत्रियधर्म है। देश में जो क्रूर मनुष्य हैं या ठग, चोर, बदमाश, व्यभिचारी आदि दुराचारी लोग हैं, उनका कानून तथा दंड से निग्रह करना, और मनुष्येतर सिंह आदि हिंसक जन्तुओं को जो प्रजा की हानि करने लगते हैं, मारकर प्रजा को निर्भय करना राजन्य का धर्म है। इसके अलावा यदि दूसरे देश का राजा अपने देश पर हमला कर दे, तो राजन्य का धर्म है कि वह वीरतापूर्वक उसका मुकाबला करे। शांति से यदि कोई समझौता नहीं होता और अगला राजा चढ़ाई करता है तो उसका सामना करना राजन्य तथा प्रजा का भी धर्म है। उपर्युक्त वास्तविकता को झुठलाया नहीं जा सकता।

उपर्युक्त कर्तव्यों को राजन्यों के मन में दृढ़ करने के लिए धर्मगुरुओं ने उन्हें यह उपदेश किया कि तुम यदि युद्ध करते या शिकार खेलते हो तो यह तुम्हारा धर्म है। ऐसा करने से तुम्हें राज्य और स्वर्ग मिलेंगे। इससे तुम्हारे धर्म-कर्म बढ़ जायेंगे। राष्ट्र-स्वार्थ के लिए धर्मगुरुओं ने इस उपदेश को बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया। ऐसे उपदेश हर देश में दिये गये और युद्ध को धर्म-युद्ध, जिहाद आदि के नाम से कहकर बात-बात में या राज्य-विस्तार की तृष्णा में निरपराधों का खून बहाया जाने लगा।

भारत में पुराकाल में बहुत-से यज्ञों में बहुसंख्य निरीह पशुओं का वध तो होता ही था। यह पशु-वध यज्ञ के नाम पर अपना पेट-धंधा चलाने वाले पुरोहित लोग क्षत्रियों से कराते थे।

वैदिक कहलाने वाले धर्मगुरुओं ने क्षत्रियों को अश्वमेध करने का उपदेश किया और कहा कि यह राज्य का विस्तार तो करेगा ही, स्वर्ग का देने वाला और समस्त पापों का नाशक भी है। इसमें एक अश्व को आगे कर पीछे राजा की सेना चलती थी और वह अश्व जिस-जिस राज्य में जाता था, वह सब अश्वमेध करने वाले राजा का हो जाता था। जो राजा अश्व को रोकता था, उससे अश्वमेध करने वाला राजा युद्ध करता था। यदि उसको परास्त कर दिया तो उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लेता था या उससे कर लेकर अपनी

अधीनता स्वीकार करा ली जाती थी। इस प्रकार निरपराध राजाओं तथा उनकी प्रजा को पीड़ित कर तथा लाखों का खून बहाकर पीछे अश्वमेध यज्ञ होता था। तब उस यज्ञ में दिग्विजयी अश्व मारकर उसकी चर्बी से हवन तो होता ही था, तीन सौ[1] अन्य पशुओं को भी यूपों (खूटों) में बांधकर मारा जाता था तथा उनका हवन होता था। यह अश्वमेध यज्ञ पुरोहितों एवं धर्मगुरुओं से प्रेरित क्षत्रियों के लिए लूट का साधन था। इसमें अन्य राजे पीड़ित होते थे, प्रजा तथा सेना तबाह होती तथा मारी जाती थी, यज्ञ में सैकड़ों पशु मारे जाते थे। इस प्रकार यह अश्वमेध यज्ञ पूरा महापाप का रूप होता था। हां, इसमें एक पुण्य होता था कि प्रजा का एकत्रित धन राजा द्वारा पुरोहितों को मिल जाता था और पुरोहित उसका उपभोग करते थे। यह अश्वमेध के नाम पर लूट-पाट, तबाही, हत्या करना क्षात्रधर्म था।

मुसलमानों ने भी जिहाद के नाम पर यही लूट-पाट तथा हत्या करना अपना राजधर्म माना और उन्होंने पुराकाल में एशिया के बहुत बड़े भू-भाग को रक्तरंजित कर दिया।

विश्व के राजाओं तथा सम्राटों की राज्यलिप्सा को उनके धर्मगुरुओं ने धर्म के नाम पर खूब बढ़ावा दिया और वे आये दिन एक दूसरे से लड़ते रहे तथा खून-खराबा करते रहे। महाभारत युद्ध यदि हुआ है तो निश्चित है कि वह विनशते-विनशते एक गुणात्मक स्थिति को पहुंच गया था। परन्तु धर्मगुरुओं ने गीता में जो उसकी प्रशंसा का पुल बांधा है और नाना छल-छद्मों से पिता, पितामह, भ्राता, पुत्रों, सम्बन्धियों तथा पूज्य गुरुओं की हत्या को धर्म कहा है वह एक चाटुकारिता तथा हत्या को बढ़ावा देना है।

राष्ट्र-रक्षा प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है। परन्तु युद्ध को बढ़ावा देना मानवता के साथ शत्रुता है। युद्ध से कभी किसी का कल्याण नहीं होता। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं—"जहां मनुष्य अपनी ध्वजाएं लेकर युद्ध करने के लिए इकट्ठे होते हैं, जिस युद्ध में किसी का कोई हित नहीं होता, और जहां सुख-शांति रूपी स्वर्ग के दर्शन चाहने वाले भय करते हैं, हे इंद्र और वरुण ! हे ज्ञानियो ! ऐसी स्थिति के लिए हमें हितकारी उपदेश दो।"[2] युद्ध में स्वपक्ष-विपक्ष किसी का

---

1. पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा।
अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह॥ वाल्मीकीय रामायण 1/14/32॥
अर्थात—राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में तीन सौ पशु तथा उत्तम अश्व-रत्न यूपों (खूटों) में बांधे गये।

2. यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो
यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम्।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा
न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्॥ (ऋग्वेद, मंडल 7, सूक्त 83, मंत्र 2)

हित नहीं होता। सुख-शांति के इच्छुक युद्ध से बचना चाहते हैं। आदमी अपने देश के मरते हैं या दूसरे देश के, आदमी तो आदमी हैं। उनकी रक्षा होनी चाहिए। युद्ध के बाद तो केवल दुख बच रहता है। महाभारत युद्ध को धर्मयुद्ध कहकर जो राग अलापा गया है, उसके बाद बचे हुए कौरवों का केवल रोना था ही, किन्तु पांडवों के पास भी रोने-पछताने के अलावा क्या था! युद्ध के पहले जो अर्जुन ने कहा था कि युद्ध में सारे परिवार को मारकर पाप ही होगा, पुरुषों के न रह जाने पर पीछे से स्त्रियां वर्णसंकर बच्चे पैदा करेंगी इत्यादि। अर्जुन की वही बात अंततः सिद्ध हुई।

युद्ध में अपने विजय के बाद युधिष्ठिर अनुताप से पीड़ित होकर कहते हैं—"मैं अपने सुहृदों का द्रोही और अविवेकी हूं। वैसे-वैसे श्रेष्ठ सुहृदों का वध करके अब मुझे जीवन, राज्य अथवा धन से कोई प्रयोजन नहीं।[1] हम लोग लोभ और मोह के कारण राज्यलाभ के सुख का अनुभव करने की इच्छा से दंभ और अभिमान का आश्रय लेकर इस दुर्दशा में फंस गये हैं। हाय, हम लोगों ने इस तुच्छ पृथ्वी के लिए अवध्य राजाओं की भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बंधु-बांधवों से हीन हो अर्थ-भ्रष्ट की भांति जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जैसे मांस के लोभी कुत्तों को अशुभ की प्राप्ति होती है उसी प्रकार राज्य में आसक्त हुए हम लोगों को भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है। अतः हमारे लिए मांस-तुल्य राज्य को पाना अभीष्ट नहीं। इसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिए।"[2] इस प्रकार युद्ध के बाद विजित ही पीड़ित होता है ऐसी बात नहीं, किन्तु विजयी के पास भी केवल अनुताप एवं मानसिक क्लेश रह जाते हैं।

युद्ध में रत रहने वाला राजा देश के लिए रचनात्मक काम नहीं कर पाता। महान कहा जाने वाला सिकन्दर (ईसा पूर्व 356-323) संसार का सबसे बड़ा लुटेरा तथा हत्यारा था। उसने अनेक देशों को केवल तबाहकर धन लूटा, परन्तु रचनात्मक काम कुछ न कर सका। भारत का सम्राट और भारतीय नेपोलियन कहा जाने वाला समुद्रगुप्त (ईसा चौथी शताब्दी) जीवन भर युद्ध एवं दिग्विजय

---

1. न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा।
   तादृशान सुहृदो हत्वा मूढ़स्यास्य सुहृदद्रुहः॥ (महाभारत, स्त्रीपर्व 15/27)
2. वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः।
   इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया॥
   ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान पृथिवीश्वरान्।
   सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः॥
   आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
   आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम्॥
   (महाभारत, शांतिपर्व 7/7, 9, 10 टीका गीता प्रेस)

करता रहा, इसीलिए वह अपने राज्यकाल में विशेष रचनात्मक कार्य नहीं कर सका। परन्तु उसी का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (राज्यकाल 380-413) कम युद्ध करने से देश में अद्‌भुत रचनात्मक काम किया तथा उसका राज्य धन-धान्य से सम्पन्न हो गया।

सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार के धर्मगुरुओं के उपदेशों द्वारा जो राजन्यों में युद्ध की प्रवृत्ति बढ़ी तथा मनुष्यों का खून-खराबा होता रहा और युद्ध की सफलता के लिए अथवा विजय के उत्साह में जो राजन्यों द्वारा निरीह प्राणियों का वध कर पूजा, यज्ञ एवं कुर्बानी के नाम पर जघन्य काम होते रहे, यह सब क्षात्र-धर्म का दुरुपयोग है। धर्मयुद्ध, जिहाद, यज्ञ, कुर्बानी आदि के नाम पर धर्मगुरुओं द्वारा दिये गये उपदेश लोलुप राजाओं की राज्यतृष्णा की अग्नि में घी के काम किये और राजे-महाराजे लुटेरे तथा हत्यारे होते हुए भी धर्मवान भी बने रहे।

आंतरिक दुष्टों का दमन कर तथा बाहरी आक्रमण से रक्षा कर राष्ट्र की सुव्यवस्था बनाये रखना राजन्य का परम कर्तव्य है और इसके लिए प्रजा को राजा का सहयोग करना चाहिए। दुष्टदमन में तथा हमलावर शत्रु से युद्ध करने में भी लोग मारे जाते हैं। मारना पाप है, परन्तु यह पाप राष्ट्र-रक्षा तथा सुव्यवस्था के लिए करना पड़ेगा। इससे स्वर्ग मिलता है, यह सब शब्दजाल है। परन्तु यह किये बिना राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं रह सकता और स्वतन्त्रता के बिना अर्थ तथा धर्म दोनों ही नहीं सध सकते।

इसके आगे सद्‌गुरु आध्यात्मिक क्षत्रिय का वर्णन करते हैं "क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै।" वे कहते हैं कि क्षत्रिय तो वह है जो अपने कुटुम्बियों से युद्ध करता है और पांच को मारकर एक को सम्राट बना देता है। "पाँचों मेटि एक के बूझै।" यहां कुटुम्ब है इंद्रियां, विषय-वासनाएं। उनमें आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं जो क्रमशः रूप, गन्ध, शब्द, स्वाद तथा स्पर्श—इन पांचों विषयों के लिए सदैव लालायित रहती हैं। इन्हीं के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय ये पांच विकार उत्पन्न होते हैं। जो इन सब पर विजय कर लेता है वह सच्चा सम्राट है। जिसके आंतरिक शत्रु नष्ट हो जाते हैं उसके जीवन में एक जीव का ही राज्य रहता है। इंद्रिय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के पश्चात ही "एक कै बूझै" वचन चरितार्थ होता है। एक कै बूझना है कैवल्य, असंगता एवं सहजावस्था की प्राप्ति। इंद्रिय-विषयों की तरफ भागना ही तो द्वैत में फंसना है। जब इंद्रिय तथा मन अपने वश में हो गये तब एक स्व-सत्ता ही की प्रतिष्ठा रह जाती है। जीव का स्वतन्त्र, स्वराज्य तथा सुराज्य हो जाता है। राजा बाहर का राज्य भी तब तक नहीं चला सकता जब

तक उसने स्वयं अपने आप पर विजय न पायी हो। विलासी राजाओं का पतन इतिहाससिद्ध है।

"जीव मारि जीव प्रतिपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥" सद्गुरु कहते हैं कि क्षत्रिय कहलाने वाले लोग तो ऐसे हो गये हैं कि वे दूसरे जीवों को मारकर अपना तथा अपनों का पालन-पोषण करते हैं। निरीह पशु-पक्षियों को मारकर खा जाना, कमजोर वर्ग के अधिकार को छीनकर अपना लेना तथा उन्हें नाना प्रकार से सताना, यह सब क्षत्रियत्व हो गया। ऐसे लोग अपने जीवन को खो रहे हैं। जो कमजोर वर्ग की हिंसा, हत्या एवं उनका शोषण करने में अपनी शूरता दिखाते हैं, उनको क्षत्रिय कहना क्षत्रियत्व की कीमत घटाना है। ऐसे लोग तो "हाले करे निशाने घाऊ" अर्थात जरा-जरा से स्वार्थ, कामना एवं क्रोध में उबलकर दूसरों को शीघ्र चोट पहुंचाते हैं। उनकी सारी बहादुरी दूसरों को चोट पहुंचाना है। उन्मादी क्षत्रिय लोग बात-बात में लड़ाई ठानना जानते हैं।

क्षत्रिय नामधारी सब दोषी नहीं होते। उनमें भी विनम्र, शीलवान तथा परोपकारी होते हैं। यहां तो उनके लिए कहना है जो क्षत्रिय नाम धराकर ऐसा करते हैं। जिनका क्षत्रिय नाम नहीं होता, उनमें भी ऐसे लोग होते हैं जो दूसरों का शोषण एवं उत्पीड़न करना ही अपना धर्म समझते हैं। "जूझि परे तहाँ मन्मथ राऊ" मन्मथ का अर्थ है जो मन का मथन करके विकार पैदा हो। मन के सारे विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि मन्मथ हैं। परन्तु यह रूढ़ हो गया है 'काम' में। अर्थात मन्मथ का अर्थ है काम। मन्मथ सारे दोषों तथा सारी मानसिक कमजोरियों का कारण है। जो जितना अधिक कामना-वासना वाला होगा, वह उतना अधिक क्रोध वाला होगा और काम-क्रोधादि में उलझे हुए मनुष्यों का भव-बंधन सदैव मजबूत रहेगा।

"मन्मथ मरै न जीवे, जीवहि मरण न होय।" यहां पर सद्गुरु अध्यात्म की गहरी बात कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब मन्मथ पूर्णतया मर जाता है, और वह फिर से नहीं जीवित होता, तब जीव का मरण नहीं होता। यहां जीव से अभिप्राय है शुद्ध चेतन। व्यक्ति की कामनाएं जब समाप्त हो जाती हैं और ऐसी समाप्त होती हैं कि वे पुनः नहीं उदित होतीं, तब उसके अन्तःकरण की स्थिति ही दूसरी हो जाती है। उसकी देह-बुद्धि लुप्त होकर स्वरूपज्ञान में स्थिरता हो जाती है। उसके जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त हो जाता है।

जीव स्वरूपतः अमर है। उसकी व्यावहारिक अमरता कामना-निवृत्ति है। यह कामना ही जीव को भटकाती है। प्रत्यक्ष है कि जो जितना कामना वाला होता है वह उतना चंचल तथा संसार में भटकने वाला होता है। जिसने अपने जीवन में विषयों की कामनाएं छोड़ दी हैं, वह यहीं मुक्त हो गया। जो आज

मुक्त है वह आगे भी मुक्त है। ऐसा मुक्त जीव ही सच्चा क्षत्रिय है। क्योंकि उसने अपने आप का क्षत से त्राण किया है। उसने पांचों को मेटकर एक को बूझा है।

"शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥" एक काम है दूसरा राम है। काम में प्रेम करना शून्य का मोही बनना है, राम में प्रेम करना तथ्य में पहुंचना है। मन्मथ में, काम में एवं भोगों में रमने वाले के सामने अन्त में शून्य है। भोगी मानव के जीवन के आखिर में क्या रहता है! उसने जो कुछ अपना मान रखा था, बिखर जाता है। भोगी आदमी ने राम को स्वयं छोड़ रखा था और जिन्हें उसने पकड़ रखा था, वे सांसारिक प्राणी-पदार्थ थे। वे अन्त में साथ नहीं चलते। शरीर रहते-रहते वे शून्य हो जाते हैं। हमारे कितने प्राणी-पदार्थ, जिनका हमने जमकर भोगने का अभिमान किया है, आज नहीं हैं। राम तो अपना आपा ही है। आपा के दो रूप होते हैं। शरीर तथा शरीर के नाम-रूपादि में मैं भाव रखना नकली आपा है। आपा का दूसरा रूप है स्व-स्वरूप, जो शुद्ध चेतन मात्र है। यही जीव का वास्तविक आपा है। आपा का अर्थ है अपना स्वरूप, स्व-सत्ता।

जो अन्त में शून्य हो जाने वाले हैं ऐसे भौतिक भोगों के मोही जीव अपने स्वरूप-राम के बोध बिना अपने आप को खो चले। संसार में बड़े-बड़े राजे-महाराजे हुए, उनका अंत में सब शून्य हो गया। इतिहास की बड़ी-बड़ी विभूतियों के केवल नाम शेष हैं और उनका क्या है! वे कहां कुत्ता-बिल्ली खानियों में भटकते होंगे, कौन बता सकता है! परन्तु जिसने भौतिक प्राणी-पदार्थों की कामना-वासना छोड़कर अपने स्वरूप-राम में स्थिति बना ली, वह धन्य हो गया।

दुखदायी माया-मोह को छोड़ो

रमैनी-84

ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार। जेहि दुख व्यापि रहा संसार॥ 1॥
माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई॥ 2॥
मोर तोर में सबै बिगुर्चा। जननी गर्भ वोद्र मा सूता॥ 3॥
बहुत खेल खेलें बहु रूपा। जन भँवरा अस गये बहूता॥ 4॥
उपजि बिनशि फिर जुइनी आवै। सुख को लेश सपनेहु नहिं पावै॥ 5॥
दुख सन्ताप कष्ट बहु पावै। सो न मिला जो जरत बुझावै॥ 6॥
मोर तोर में जरे जग सारा। धृग स्वारथ झूठा हंकारा॥ 7॥
झूठी आस रही जग लागी। इन्हते भागि बहुरि पुनि आगी॥ 8॥
जेहि हित के राखेउ सब लोई। सो सयान बाँचा नहिं कोई॥ 9॥

साखी—आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय।
कहहिं कबीर जो आपु न जागे, निरास्ति अस्ति न होय॥ 84॥

शब्दार्थ—लोई=लोग। मूल=स्वरूपविवेक, शांति। बिगुर्चा=बिगूचन, उलझन, कठिनाई। रुसवा=बदनाम, लांछित, अपमानित, तात्पर्य में रुष्ट, क्रोधित। निरास्ति=असत्य। अस्ति=सत्ता, सत्य।

भावार्थ—हे जीव! तू अपने आप को उन दुखों से बचा ले, जो सारे संसार में फैला हुआ है॥ 1॥ सब लोग माया के मोह-बन्धन में बंधे हुए हैं। उनमें विषय-भोगों का क्षणिक लाभ है, परन्तु इस व्यामोह में पड़कर स्वरूपविवेक तथा चिरंतन शांति खो जाते हैं॥ 2॥ संसार के सारे लोग राग-द्वेष में उलझे हैं। इसी कर्म-वासना-वश वे बारम्बार माता के गर्भ में सोते हैं और जन्मते हैं॥ 3॥ जीव नाना रूप धारणकर संसार में पाप-पुण्य कर्मों के नाना खेल खेलते हैं, परन्तु वे सब उसी प्रकार विमोहित होकर संसार में पिस जाते हैं, जैसे भंवरे सुमन-संपुट में उसकी रसासक्ति के वश बंद होकर मारे जाते हैं और स्वप्न में भी किंचित सुख नहीं पाते॥ 5॥ बल्कि दुख, संताप एवं बहुत कष्ट पाते हैं। इन्हें ऐसे सद्गुरु नहीं मिलते जो इनके जलते हुए हृदय को अपने सत्योपदेश-जल से बुझा दें॥ 6॥ राग-द्वेष में सारा संसार जल रहा है। ऐसे स्वार्थ को धिक्कार है और धिक्कार है इसके मूलस्वरूप झूठे अहंकार को॥ 7॥ लोगों को जो संसार के भोगों की आशा लगी है, झूठी है। जो इनसे भागता भी है वह जाकर फिर दूसरी आग में पड़ जाता है, वह आग है धार्मिक उलझन॥ 8॥ लोगों ने जिस कल्याण के लिए मान्यता की एक घेराबन्दी बना रखी है, वह कल्याणकारी न हुआ और उन चतुर लोगों में से कोई भव-बंधनों से मुक्त नहीं हुआ॥ 9॥

लोग झूठी मान्यताओं से अपने आप सावधान नहीं होते। यदि उन्हें सावधान किया जाता है तो वे क्रोधित हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं, यदि मनुष्य अपने आप में सावधान नहीं होता, तो भी असत्य मान्यताएं सत्य नहीं हो सकतीं॥ 84॥

व्याख्या—सद्गुरु ने प्रथम रमैनी को जैसे पूरे ग्रन्थ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है और बीजक भर में विस्तृत ढंग से कही हुई बातों को प्रथम रमैनी में सूत्र रूप में कह दिया है, वैसे रमैनी प्रकरण के अन्त की इस चौरासिवीं रमैनी में पूरे रमैनी-प्रकरण का सार कह दिया है।

"ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार। जेहि दुख व्यापि रहा संसार॥" दैहिक, दैविक तथा भौतिक—ये तीन दुख हैं, जिनमें संसार के सारे प्राणी पीड़ित हैं। शारीरिक रोग और मानसिक उलझनों से मिलने वाले दुख दैहिक ताप हैं; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओला-पाला या किसी भी जड़ पदार्थ से मिलने वाला दुख

दैविक ताप है और प्राणियों द्वारा मिलने वाला दुख भौतिक ताप है। इन तीन तापों में मुख्य ताप है मानसिक। जड़-पदार्थों द्वारा मिलने वाले दैविक ताप तथा प्राणियों द्वारा मिलने वाले भौतिक ताप से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिए। संयम रखकर दैहिक तापों से भी बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हम अपने आप को मानसिक तापों से पूर्णतया बचा सकते हैं। मन की पीड़ा सबसे बड़ी पीड़ा है। जिसके मन की पीड़ा समाप्त हो गयी, वह सदैव सुखी रहता है।

मन से उत्पन्न हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष जीव को आज संताप देते हैं और आगे भव-बन्धन एवं जन्म-मरण-प्रवाह के कारण बनते हैं, जिनके फल में जीव नाना देह धारणकर सभी प्रकार की पीड़ाओं को भोगते हैं। अतएव मुख्य दुख है दुख-मूल काम-क्रोधादि। सद्गुरु कहते हैं कि इस दुख में सारा संसार डूबा है। इससे तुम अपने आप को बचा लो।

"माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई॥" दुखों के उत्पन्न होने का कारण है माया के मोह में बंध जाना। देखा जाता है तो सब जीव माया-मोह में बंधे हैं। जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना ही माया-मोह है। विवेक कर देखिए तो अपनी आत्मा के अलावा कुछ भी अपना नहीं है। शरीर से लेकर संसार के सारे प्राणी-पदार्थ 'पर' हैं, सब अपनी आत्मा से अलग हैं और इन्हीं में हम अहंता-ममता करके बंधे रहते हैं। इन सुहावने ममता-मोह में भोगों का लाभ दिखता है; परन्तु वह बहुत क्षणिक है और वासना-तृष्णा को उत्पन्न कर असीम दुखों को बढ़ा देने वाला है। संसार में फंसकर हम अपने मूल को खो देते हैं। हमारा मूल है आत्म-अस्तित्व। आत्म-अस्तित्व तो खो नहीं सकता, परन्तु माया-मोह के कारण उसका विस्मरण हो जाता है। विस्मरण होना ही यहां खोना है। हमारे पास करोड़ों की संपत्ति है; परन्तु वह विस्मृत है, तो वह मानो होते हुए न होने के समान है। इसी प्रकार परम तृप्तस्वरूप स्व-सत्ता है, परन्तु उसे विस्मृत कर हम भटक रहे हैं। अतएव भोगों में लाभ क्षणिक है जो अंततः दुख में बदल जाता है और इस भोगावरण में स्वरूप का विस्मरण हो जाता है, और हम संसार में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भटकते हैं।

"मोर तोर में सबै बिगुर्चा" हम संसार के प्राणी-पदार्थों में जितना आसक्त होते हैं, उतना ही राग-द्वेष में उलझते हैं। कुछ भी अपना मानने से राग उत्पन्न होता है और उसमें विघ्न पड़ने पर द्वेष आता है। राग-द्वेष मनोमय सागर के महान भंवर हैं। इनमें पड़े हुए जीवों को कहां विश्राम। राग-द्वेष ऐसी दावाग्नि है जिसमें सारा संसार जल रहा है। "मोर तोर में सबै बिगुर्चा" बड़ा मार्मिक वचन है। मन के सारे विकार राग-द्वेष में आ जाते हैं। ये राग-द्वेष में बंधे जीव जन्म-मरण के प्रवाह में भटक रहे हैं।

"बहुतक खेल खेलें बहुरूपा। जन भँवरा अस गये बहूता॥" मनुष्य नाना रूपों में नाना प्रकार के खेल खेलते हैं। मनुष्य चार दिन के जवानी, धन, परिवार, मित्र, अधिकारादि पाकर उनमें भूल जाते हैं, और माया के उन्माद में पड़कर नाना प्रकार के अच्छे-बुरे आचरण करते हैं। अच्छे आचरण करना तो ठीक है, परन्तु वे प्राप्त क्षणिक शक्ति के प्रमाद में दीन-दुनिया को इतना भूल जाते हैं कि दुष्कर्म करने में इति नहीं करते। भोगों में उन्मत्तता, उसके लिए अधिक धन संग्रह करने के चक्कर में छल, चोरी, विश्वासघात, भोगों में विघ्न पड़ने पर हत्या तथा और पता नहीं कितने दुष्कर्म मनुष्य करते हैं। देह के अभिमान में आदमी संसार में छककर खेलता है। इसके परिणाम में उसकी दशा भंवरे की होती है। भंवरे फूलों में बैठकर रस लेते हैं और उनकी आसक्ति के वश होकर भूल जाते हैं कि इनसे अलग होना चाहिए, और इतने में पशु आकर फूलों के सहित उन्हें चरकर अपने मुख में चबा जाते हैं। इसी प्रकार प्रमादी मनुष्य संसार के राग-रंग में डूबकर नाना कर्म करते हुए काल के गाल में चले जाते हैं। "उपजि बिनशि फिर जुइनी आवै" कर्मी जीवों की यही परिणति है कि जन्मते-मरते हुए संसार में भटकते रहें और स्वप्न में भी सच्चे सुख के दर्शन न पायें।

"दुख सन्ताप कष्ट बहु पावै" देहधारी जीवनभर दुखों, संतापों, कष्टों एवं विपत्तियों से घिरा रहता है। यहां दुख, संताप, कष्ट तीन शब्द हैं जिनका मोटे रूप में एक ही अर्थ लगता है; परन्तु इनके अर्थों में अन्तर है। कोई धूप में चलकर आता है, तो लोग कहते हैं "आपको बड़ा कष्ट हुआ।" किसी की जब कोई बड़ी हानि होती है तब लोग कहते हैं 'उन्हें बड़ा दुख है।' घोर अपमान या प्रतिकूलतादि प्राप्त होने पर मनुष्य को 'संताप' होता है। इस प्रकार कष्ट, दुख एवं संताप क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक दुखदायी हैं। इसी प्रकार खेद, चिंता, शोक, पीड़ा एवं वेदना में अन्तर है। मित्र का पत्र न मिलने से खेद होता है। काम बिगड़ जाने से चिन्ता होती है। पुत्रादि के मरण से शोक होता है। शरीर में घाव होने पर पीड़ा होती है। गहरी पीड़ा ही वेदना कहलाती है। किसी घटनाविशेष से मन में लगे हुए धक्के से जो उस समय मन की अव्यवस्थित दशा होती है, वेदना कहलाती है। देहोपाधि में पड़कर इन सभी को जीव झेलता है।

"सो न मिला जो जरत बुझावै" मनुष्य के जलते हुए मन को शीतल करने वाला सद्गुरु का ज्ञान है। मनुष्य को जब तक वह नहीं मिलता तब तक जलता रहता है। संसार में दुखों से छुटकारा अन्य जगह कहीं नहीं है। केवल सच्चे सद्गुरु की शरण में ही जीव पूर्ण सुखी हो सकता है।

"मोर तोर में जरे जग सारा।" इस अर्धाली में भरी हुई व्यंजना अत्यंत मार्मिक है। सारा मानव-संसार तो 'मोर-तोर' में जल रहा है। थोड़ी-थोड़ी

जमीन, रुपये तथा मान-मर्यादा के लिए मनुष्य राग-द्वेष, क्रोध, हत्यादि सब कुछ करता है। भाई-भाई, चाचा-भतीजे, यहां तक पिता-पुत्र भी आमने-सामने मकान में रहते हैं, दोनों के घर से निकलने का प्रांगण एक है, परंतु एक दूसरे से बात नहीं करते। इतना ही नहीं, एक-दूसरे को देखकर जलते हैं। ऐसे दुर्लभ लोग हैं जो अपने पड़ोसी को देखकर प्रसन्न होते हैं।

यह सच है कि कुछ अपना तथा पराया माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। व्यक्ति बाहर से आकर अपने माने हुए मकान में ही घुसता है, किसी भी मकान में नहीं। अन्न एवं द्रव्य कमाकर मनुष्य अपने घर में लाकर अपनी पत्नी एवं बच्चे को ही देता है। वह उन्हें रास्ते भर बांटते हुए नहीं आता। परिवार एवं समाज के कुछ व्यक्तियों के लिए मनुष्य की अपनी जिम्मेदारी होती है। उस जिम्मेदारी को निभाना बुरा नहीं है। परन्तु आदमी जब ममता एवं स्वार्थ में अन्धा हो जाता है, तब वह अपने माने हुए परिवार एवं स्वार्थ के लिए दूसरे के हक को मारता है। वह दूसरे के धन, जमीन, मकान एवं अन्य चीजों को दबाता, हड़पता तथा उसके लिए पता नहीं, कौन-कौन अघकर्म करता है। और इन सबको लेकर वह अपने मन में स्थायी राग-द्वेष की आग सुलगाये रखता है।

"धृग स्वारथ झूठा हंकारा" सद्गुरु कहते हैं कि अविवेकपूर्ण स्वार्थ को धिक्कार है। यह भी सच है कि स्वार्थ सारे संसार को है। स्वार्थ का काम किये बिना भी नहीं चल सकता। खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, आवास-निवास बहुत सारे स्वार्थ हैं जो ज्ञानी-से-ज्ञानी व्यक्ति को भी आवश्यक हैं। परन्तु यह स्वार्थ विवेकपूर्ण तथा मानवीय होना चाहिए। मनुष्यों के बीच में खाने के लिए रोटी रख दी जाती है, वे उसे बांटकर खाते हैं और कुत्तों के बीच में जब रोटी रखी जाती है तब वे उसे लड़कर खाते हैं। यदि आदमी भी लड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता हो तो यह पशुता है। बांटकर खाना मानवता है। कुत्तों का तो एक स्वार्थ केवल रोटी है और कई जगह देखा जाता है कि वे भी एक जगह रखी हुई रोटियों को मिलकर खाते हैं। परन्तु आदमी के स्वार्थजाल की सीमा नहीं है और वह जीवन में कहीं-न-कहीं अवश्य दूसरों से लड़ता है। लड़ाई भी दो प्रकार की है। अपने हक के लिए लड़ना बुरा नहीं है। परन्तु जब वह दूसरों के हक को मारने के लिए लड़ता है, तब उसे क्या कहा जाये! सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे नीच स्वार्थ को धिक्कार है, और धिक्कार है उस अहंकार को जो इसके नीचे छिपा बैठा है। मनुष्य का जो यह घोर अहंकार है कि ये धन, परिवार मेरे हैं, ऐसे अहंकार को धिक्कार है।

केवल व्यवहार को सम्पादित करने के लिए ही अपना-पराया मानना ठीक है। अन्यथा क्या अपना-पराया है! यह सब देह रहते-रहते बदलते तथा

विनशते रहते हैं और देह छूट जाने पर तो अपने माने गये सारे प्राणी-पदार्थ उसके लिए आकाश-कुसुम हो जायेंगे। जिस संसार से हमें शरीर भी छोड़कर आज-कल में सदा के लिए चला जाना है, वहां का अहंकार करना कितनी घोर मूढ़ता है; और फिर ऐसा अहंकार जिसमें घृणित स्वार्थ जन्म ले, जिसको लेकर हम दुष्कर्म-पर-दुष्कर्म करें तथा निरंतर राग-द्वेष में जलते रहें।

"झूठी आस रही जग लागी" लोगों को संसार के भोगों में सुख भोगने की जो आशा लगी है वह झूठी है। मैथुन, मोह, ममता, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्त्री, पति, पुत्र, धन, भवन, सम्मान आदि से तृप्ति पाने की आशा घोर मूर्खता है।

एक नट तथा एक धोबी आस-पास बसे थे। दोनों के एक-एक गधा था जिनमें मित्रता थी। धोबी तो स्थायी रूप से घर में रहता था तथा तालाब पर जाकर लोगों के कपड़े धोता था और नट महीनों गांव-गांव घूमकर तथा तमाशा एवं करतब दिखाकर भिक्षा मांगता था, फिर कभी घर पर आता था।

एक बार जब चार महीने पर नट घर पर लौटकर आया, तब नट तथा धोबी के गधे मिलकर एक दूसरे से कुशल समाचार पूछने लगे। धोबी के गधे ने नट के गधे से पूछा—"मित्र, तुम बहुत दुबले क्यों हो?" नट के गधे ने कहा—"मेरा स्वामी मुझे दिन भर गांव-गांव घुमाता है। वह सुबह अपने डेरे से चलकर तथा मेरे ऊपर तमाशा का सामान लादकर एक गांव से दूसरे गांव जाता है तथा तमाशा दिखाकर भिक्षा मांगता है। मुझे पूरा दिन कुछ खाने के लिए नहीं मिलता। वह जब शाम को अपने डेरे पर आता है, तब मुझे चरने लिए लम्बी डोरी से खूंटे में बांध देता है। क्या करूं मित्र, पेट नहीं भरता। इसलिए दुबला हूं।"

धोबी के गधे ने कहा—"मैं तो सुबह घर से कपड़ों की एक लादी लेकर तालाब जाता हूं। लादी गिरा देता हूं। मेरा मालिक दिन भर तालाब में कपड़े धोता है और मैं तालाब में हरी-हरी घास चरता हूं। शाम धुले तथा सूखे कपड़ों की लादी लाकर घर पर गिरा देता हूं और रात भर आराम से घर में सोता हूं। इसलिए मैं स्वस्थ और सुखी हूं। मित्र जी, तुम भी नट का साथ छोड़कर मेरे स्वामी के यहां आ जाओ।"

नट के गधे ने कहा—"लेकिन मैं आ नहीं सकता। क्योंकि नट के साथ रहने में मुझे एक लम्बे सुख की आशा है। इसलिए उसकी आशा में मैं सारा दुख सहता हूं।"

धोबी के गधे ने पूछा—"वह क्या है?" नट के गधे ने उत्तर दिया—"नट जब किसी गांव में जाकर अपने करतब दिखाता है तब वह मुझे वहीं पास में

एक खूंटे में बांध देता है। वह बांस के दो खंभों पर रस्सी बांधकर उस पर अपनी युवती लड़की को चढ़ाकर उसे उसी पर नचाता है, और उससे कहता है 'देख, गिरना नहीं, अन्यथा तेरी शादी इसी गधे से करूंगा।' मैं वहीं खड़ा होकर यह सब देखता-सुनता हूं। मैं सोचता हूं कि यह हरामजादी किसी दिन तो गिरेगी।"

धोबी के गधे ने हंसकर कहा—"यार, यह कहकर तो नट समाज का मनोरंजन करता है। एक तो लड़की अभ्यस्त है, वह गिरेगी नहीं, और यदि कदाचित कभी गिर भी जाये, तो उसकी शादी तुमसे नहीं हो सकती।"

संसार के भोगों से, प्राणी-पदार्थों एवं मान-सम्मान से चिरंतन एवं नित्य तृप्ति की आशा करना नट के गधे की आशा चरितार्थ करना है। सद्गुरु कहते हैं "झूठी आस रही जग लागी" जगत के भोगों से तृप्ति की आशा करना झूठी अवधारणा है।

"इन्हते भागि बहुरि पुनि आगी" इस अर्धाली में एक सूक्ष्म दिशा के लिए व्यंजना है। सद्गुरु कहते हैं कि कितने ऐसे लोग होते हैं जो संसार के भोगों को छोड़ देते हैं। यहां तक घर-परिवार से भागकर साधु-संन्यासी हो जाते हैं। परन्तु यदि वे साधु-संन्यासी, मुल्ला-पंडित, ज्ञानी-योगी आदि का धार्मिक या आध्यात्मिक जामा पहनकर भी सांप्रदायिकता की आग में जलते रहते हैं, तो बात घूमकर वही हुई। संसार में भोगों के झूठे स्वार्थ को लेकर राग-द्वेष में जल रहे थे, और यहां धार्मिक नाम रखकर धर्म तथा ईश्वर को लेकर सांप्रदायिकता की आग में जल रहे हैं। यहां अपना देवता, अपना ईश्वर, अपना आचार्य, अपना खलीफा, अपना धर्म, अपने चेले, अपने अनुगामी, अपना प्रचार, अपना संप्रदाय, अपना मजहब आदि को लेकर यदि राग-द्वेष में जलते हैं, तो बात घूमकर वही हो गयी। भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक दिशा की ओर बढ़ने का फल होना चाहिए समता एवं शांति की प्राप्ति।

"जेहि हित के राखेउ सब लोई। सो सयान बाँचा नहिं कोई॥" मनुष्य अपना कल्याण समझकर प्राणी-पदार्थों में अपनी आसक्ति बनाता है और वह भूलवश मजहबी भावनाओं तथा धार्मिक जड़ता को भी अपने कल्याण के लिए अपने गले चिपकाता है, और इन सब बातों में वह अपनी सयानी समझता है। वह अपने आप को बड़ा चतुर मानता है। परन्तु इन बातों में जो अपने आप को जितना ही चतुर समझता है, वह उतना अधिक मूढ़ होता है। राग-द्वेष करने, दूसरों को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करने तथा संसार के राग-रंग में अपने आप को महान मानने वाले, पतन से नहीं बच सकते। कुबुद्धि और कुचाल करने में अपने आप को समझदार मानना घोर अज्ञान और पतन का पथ है।

"आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय।" मनुष्य माया-मोह की नींद से स्वयं जागता नहीं। उसे जगाओ तो वह रुष्ट होता है। जिसमें प्रबल आसक्ति हो जाती है, उसमें दोष बताने पर आदमी लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू-गांजा, शराब-मांस जैसे तुच्छ दुर्व्यसन त्यागने के लिए निवेदन किया जाये, तो कितने लोग असन्तुष्ट हो जाते हैं। वे कहते हैं कि हम बीड़ी-सिगरेट छोड़ दें तो आप अन्न छोड़ दीजिए। साफ जाहिर है कि अन्न नहीं छोड़ा जा सकता है, किन्तु नशीले पदार्थों को छोड़कर हर प्रकार से हित है।

चाहे सांसारिक प्राणी-पदार्थों के बारे में हो और चाहे धार्मिक एवं आध्यात्मिक जड़मान्यताओं के बारे में हो, जहां कहीं भी मनुष्य की आसक्ति हो जाती है उसका छोड़ना कठिन होता है, और यदि कोई उसकी कसर बताकर उसे उससे मुक्त होने की राय दे तो उसे वह सुनना भी नहीं चाहता। जो व्यक्ति अपने में न स्वयं विवेक जगाता है और न दूसरे के अच्छे निर्देश को स्वीकारना चाहता है, उसका कल्याण कैसे होगा!

"कहहिं कबीर जो आपु न जागे, निरास्ति अस्ति न होय।" सद्गुरु कहते हैं कि यदि व्यक्ति स्वयं सावधान नहीं होता, यदि वह अपनी आंखें नहीं खोलता और झूठे मोह तथा मान्यताओं में ही चिपकता रहता है, तो क्या झूठी बातें सच हो जायेंगी! कदापि नहीं। यदि आदमी सांसारिक भोगों, प्राणियों एवं पदार्थों में हठपूर्वक आसक्त ही रहे, तो क्या वे उसके साथ चलेंगे! जो लोग सांसारिक माया-मोह तथा राग-रंग में अपनी बड़ी सयानी दिखा रहे हैं और उन्हें सब का खूब अहंकार है, इसलिए वे उनके विरुद्ध कुछ नहीं सुनना चाहते, तो क्या इस प्रकार उनके मोह करने से वे सारी मायावी वस्तुएं जीव के लिए कल्याणदायी हो जायेंगी? असत्य वस्तुओं में मोह करने से वे सत्य नहीं बन सकतीं। इसी प्रकार धर्म तथा अध्यात्म के नाम पर मनुष्यों ने जितने अंधविश्वास, पाखंड एवं प्रतिगामी विचार पाल रखे हैं, उनकी उनमें जड़ता होने से वे सब सत्य तथा मानव के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकते।

अतएव हमें यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि संसार के चाहे स्थूल पदार्थ हों, प्राणी हों या मन की अवधारणाएं, इनमें राग कर हम बंधते हैं। इनके राग से छूटकर हम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कृतार्थ हो जाते हैं। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वरूपस्थिति है। इसके लिए हमें जागरूक होना चाहिए।

फल छन्द

सुनि रमैनी पद परम यह,
जीव अति प्रमुदित भयो।
जो भूल से दुरते न कधि,
वह रिपु प्रभो! क्षण में क्षयो।
कर्तव्य जन का अब यही,
पुनि-पुनि मनन गुरुपद ठयो।
गुरुवर प्रसाद प्रबन्ध पारख,
पाय अविचल पद लयो॥

चौपाई

सब शुभ साधन कर फल येहू।
जेहि ते धोखा धार दुरेहू॥
सत्य प्रकाश अभूल रहेहू।
गो मन स्ववश रमैनी लेहू॥

जिज्ञासा

सुना चहहुं प्रभु अग्रहुं केरा। जो कुछ शोधन व्यंजन हेरा॥
जौ लौं देह तहां लगि मेरा। नित नव अभिरुचि पद सोइ प्रेरा॥

शब्द प्रकरण

हेतु छन्द

रोचक भयानक काल्पनिक,
भ्रम शब्द का घनघोर था।
मानो निविड़ तम पथ न सूझै,
द्वन्द्व चारों ओर था॥
कोइ सात्विकी तपसी सुभट,
निज खोज सत्य विभोर था।
वह सत्य रवि उद्योतमय,
निर्णय सजीव सजोर था॥

दोहा

सत्य शब्द निर्णय किये, करुणा-रमण कबीर।
जेहि विचार तत्काल ही, पावत पारख धीर॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

द्वितीय प्रकरण : शब्द

गुरु-भक्ति, माया-विरति तथा असंगता

शब्द-1

सन्तो भक्ति सतोगुर आनी॥ 1॥

नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ 2॥
पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँदिश पानी पानी॥ 3॥
तेहि पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी॥ 4॥
उड़ि माखी तरवर को लागी, बोलै एकै बानी॥ 5॥
वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी॥ 6॥
नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला॥ 7॥
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला॥ 8॥

शब्दार्थ—नारी=भक्ति। पुरुष दुइ=ज्ञान तथा वैराग्य। पाहन=पत्थर, विषयासक्ति। गंग=गंगा, भक्ति। दुइ पर्वत=अहंता-ममता। दरिया=समुद्र, संसार-समुद्र। लहर=भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की तरंगें। माखी=विषयासक्त-वृत्ति। तरवर=तरुवर, वृक्ष, आत्मज्ञान की ऊंचाई। एकै बानी=स्वरूपज्ञान की बातें। नारी=माया। पुरुषवै=चेतन जीव। अकेला=असंग, निराधार।

भावार्थ—हे संतो ! सद्गुरु साधक के हृदय में भक्ति का अवतरण करता है, अथवा हे संतो ! अपने हृदय में सद्गुरु के प्रति भक्ति का अवतरण करो॥ 1॥ इस भक्ति रूपी नारी ने ज्ञान और वैराग्य रूपी दो पुरुषों को जन्म दिया है। हे पण्डित तथा ज्ञानियो ! इसे समझो॥ 2॥ जैसे हिमालय के पर्वत फोड़कर गंगा नदी निकली और मैदानी भाग में आकर उसने सर्वत्र पानी-पानी फैला दिया, वैसे जब मनुष्य के हृदय की विषयासक्ति-शिला टूटकर भक्ति-गंगा का अवतरण होता है तब पूरा जीवन भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य से आप्लावित हो जाता है॥ 3॥ इस भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के पानी में अहंता-ममता के दो

पर्वत डूब जाते हैं, अर्थात इनका नाश हो जाता है। यहां तक कि इस भक्ति की लहर में संसार-सागर ही डूबकर शांत हो जाता है॥ 4॥ जैसे सर्वत्र पानी भर जाने पर मक्खियां जमीन से उड़कर ऊंचे पेड़ पर जा बैठती हैं, वैसे जीवन भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य से ओतप्रोत हो जाने पर पहले की विषयों में डूबी मनोवृत्ति आत्मज्ञान रूपी उच्च वृक्ष पर जा बैठती है और एक स्वरूपज्ञान की बातें बोलने लगती है॥ 5॥ जैसे बिना नर तथा वीर्य के मादा को गर्भ रह जाये तो आश्चर्य है, वैसे विषयवृत्ति भक्ति के प्रताप से बिना अन्य सहारे के स्वयमेव ज्ञानवृत्ति बन जाती है॥ 6॥ भक्ति-नारी तो कल्याणकारी है, परन्तु दूसरी माया-नारी है जिसने सारे जीवों को पथभ्रष्ट कर रखा है, इसलिए जीव को चाहिए कि वह उसे छोड़कर अकेला हो जाये॥ 7॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जो आज इस जीवन में इस सत्य को समझ लेता है वह गुरु हो जाता है, और मैं उसका दास बनने के लिए तैयार हूं॥ 8॥

व्याख्या—श्रीमद्भागवत पुराण[1] के माहात्म्य के पहले ही अध्याय में एक मनोरंजक कथा है। वह इस प्रकार है—एक सुन्दरी युवती वृन्दावन में बैठी है और उसके सामने दो वृद्ध तथा निर्बल पुरुष लेटे हैं। वहां नारद ने पहुंचकर उस युवती से उसका परिचय पूछा। युवती ने कहा—मेरा नाम भक्ति है। ये सामने लेटे हुए दोनों वृद्ध पुरुष मेरे पुत्र हैं। मैं द्रविड़[2] देश में पैदा हुई, कर्णाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में यत्र-तत्र मेरा सत्कार हुआ, परन्तु गुजरात में मैं बूढ़ी हो गयी। वहां घोर कलियुग के प्रभाव से प्रभावित पाखंडियों ने मेरे अंग-भंग कर दिये। अब मैं वृन्दावन में आ गयी हूं। यहां तो मैं पुनः स्वस्थ युवती हो गयी, परन्तु मेरे दोनों बच्चे ज्ञान-वैराग्य अब भी दुर्बल बने पड़े हैं।

द्रविड़देशीय तमिलभाषी नम्मालवार (शठकोपाचार्य), तिरुभंगै आलवार आदि ने लोकदृष्टि से अंत्यजवर्ग में होकर भी भक्ति की गंगा बहायी और इनके तिरुविरुतम, तिरुवाशिरियम, पेरियतिरुंदादि तथा तिरुवाँयमोलि ये चार ग्रन्थ तमिल भाषा में भक्ति के महान ग्रन्थ हैं। शठकोपाचार्य के बाद नाथमुनि तथा यमुनाचार्य वैष्णव आचार्य हुए। इसके बाद रामानुजाचार्य प्रसिद्ध आचार्य हुए। इस प्रकार द्रविड़ में भक्ति ने जन्म लिया। उसके ज्ञान-वैराग्य दो पुत्र पैदा हुए। उसने कर्णाटक तथा महाराष्ट्र में विस्तार किया; परन्तु गुजरात में उसे अनुकूल वातावरण न मिला। वृन्दावन में उसे अनुकूल वातावरण मिला, परन्तु ज्ञान-वैराग्य के लिए वहां भी कोई सुविधा नहीं मिली। इस प्रकार भक्ति दक्षिणी

---

1. पुराण विशेषज्ञों के अनुसार 900 ई. में भागवत पुराण की रचना हुई है।
2. तमिलनाडु का प्राचीन नाम द्रविड़ है। मद्रास से लेकर दक्षिण कन्याकुमारी तक द्रविड़ देश कहलाता है।

भारत में पैदा होकर उत्तरी भारत में आयी।[1]

कबीर साहेब के साखी-ग्रन्थ में, एक साखी है "भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद। प्रगट करी कबीर ने, सात दीप नौ खंड॥"[2] इस प्रकार मानो कबीर साहेब कह रहे हों कि भक्ति तो दक्षिणी भारत में पैदा हुई; परन्तु सद्गुरु रामानंद ने उसे उत्तरी भारत में लाया।

यह विचार करने योग्य है कि "सन्तो भक्ति सतोगुर आनी" में स्वामी रामानंद का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। कहना चाहिए कि पूरे बीजक में भी उनका वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि उक्त साखी-ग्रन्थ की साखी है। बीजक में केवल एक जगह स्वामी रामानंद का नाम आया है, वह इस प्रकार है "रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।"[3] इससे सिद्ध होता है कि कबीर साहेब स्वामी रामानन्द की सगुण रामभक्ति से संतुष्ट नहीं थे। इसके साक्ष्य में उनकी सारी वाणियां हैं। यदि भक्ति द्रविड़ से आकर स्वामी रामानन्द द्वारा कबीर की विचारधारा में प्रविष्ट मानी भी जाये तो वह न सगुण अवतारी-भक्ति है और न परोक्ष कल्पित ईश्वर-भक्ति है, किन्तु वह गुरुभक्ति तथा आत्मस्थिति रूपी पराभक्ति है। तब यही कहना पड़ेगा कि वैष्णवों की ईश्वरभक्ति कबीर और कबीरपंथ में गुरुभक्ति तथा स्वरूपस्थिति बन गयी है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कबीर-बीजक तथा कबीरपंथ है।

"सन्तो भक्ति सतोगुर आनी" यह कबीर देव का संतों के लिए आदेश है कि वे सद्गुरु के प्रति भक्ति रखें। संत किसे कहना चाहिए? सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने इस पंक्ति की टीका करते हुए संतों की बड़ी उदार परिभाषा उपस्थित की है—"सन्तो कहिए श्रोता को, सन्तो शांत स्वरूप। सन्तो कहिए जीव को, निरुवारत निजरूप॥" अर्थात श्रोता, साधु तथा सामान्य मनुष्य जो भी सदुपदेश के ग्राहक हैं, सब संत हैं।

मनुष्य के अस्तित्व के साथ ही उसके हृदय में भक्ति है। उसके विकास की आवश्यकता है। वैदिक-साहित्य में शायद 'भक्ति' शब्द पहली बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है—"जिस महात्मा के मन में जैसे देव के प्रति परम भक्ति होती है वैसे गुरु के प्रति भी होती है, उसी के हृदय में सत्योपदेश के अर्थ प्रकाशित होते हैं।"[4] जानी हुई बातों को जीवन में उतारने के लिए समर्थ सद्गुरु

---

1. भक्ति का मूल उदय उत्तरी भारत में ही हुआ : देखें आगे 81वें शब्द की व्याख्या।
2. महाराज राघव साहेब-संपादित साखी ग्रंथ, भक्ति को अंग 12।
3. बीजक, शब्द 77, इसकी व्याख्या देखें।
4. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/23)

के प्रति भक्ति की महती आवश्यकता है। सद्गुरु ही निजस्वरूप एवं आत्मदेव की परख कराने वाला है; इसलिए उसके प्रति अनुराग एवं प्रेम रखना अत्यन्त आवश्यक है और यही भक्ति का प्रथम पक्ष है। इसीलिए कबीरदेव ने यहां सद्गुरु-भक्ति पर जोर दिया है। अंततः भक्ति का मुख्य शाब्दिक अर्थ है—वियोजन, पृथक्करण एवं विभाजन।[1] अर्थात अपनी आत्मा को जड़-देह से अलग समझकर इस असंगभाव में स्थित हो जाना।

"नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पण्डित ज्ञानी।" भक्ति-नारी ने ज्ञान-वैराग्य दो पुत्र पैदा किये। जिसके हृदय में भक्ति है, उपासना है, विनम्रता है, उसके हृदय में ही समय से ज्ञान तथा वैराग्य का उदय होता है। भक्तिविहीन व्यक्ति के हृदय में ज्ञान-वैराग्य नहीं उत्पन्न हो सकते। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित तथा ज्ञानियो ! इस बात को समझो। इस तथ्य को मननपूर्वक ही समझा जा सकता है।

"पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँदिश पानी पानी।" हम देखते हैं कि पत्थरों को फोड़कर नदियां निकलती हैं और मैदानी भाग में आकर सारे दृश्य को हराभरा कर देती हैं। मनुष्य का हृदय विषयासक्ति से पत्थर बना है। जिसके हृदय में भक्ति की गंगा फूट पड़ती है उसके हृदय की विषयासक्ति एवं जड़ता की शिलाएं टूट-टूट कर बिखर जाती हैं। उसका पूरा जीवन भक्ति से ओतप्रोत हो जाता है। जिसके जीवन में भक्ति-गंगा लहराती है, उसके लिए सारी दिशाएं भक्तिमय होती हैं। ऐसा साधक सबसे विनम्र होता है। वह प्राणिमात्र को देवरूप समझकर सबसे विनयी होता है। वह दूसरे का कुछ हरता नहीं, किन्तु अपनी मानी गयी सारी चीजें ही दूसरे की सेवा में लगाने योग्य समझता है।

"तेहि पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी।" इस भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के पानी में अहंता-ममता के पर्वत डूब जाते हैं। जिसके हृदय में भक्ति की गंगा बहती है, जिसके हृदय में भक्ति से उत्पन्न ज्ञान तथा वैराग्य का पूर्ण प्रकाश है, उसके हृदय में अहंता-ममता के बन्धन नहीं रह सकते। जहां अहंता-ममता नहीं हैं, वहां राग-द्वेष नहीं हैं। अहंता-ममता ही भयंकर पर्वत हैं। जो इनको लांघ जाता है, वह भव से पार हो जाता है। उसका दरिया लहर में समा जाता है। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की लहरों में उसका संसार-सागर डूब जाता है। यह बाहर का संसार हमें नहीं बांधता। हमें बांधने वाला या डुबाने वाला हमारे मन का समुद्र है। यह मन की वासना ही संसार-सागर है जो भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य से शांत होता है।

---

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे।

"उड़ि माखी तरवर को लागी, बोलै एकै बानी।" जब वर्षा से पूरी जमीन जलमग्न हो जाती है तब मक्खियां उड़कर ऊंचे वृक्षों पर जा बैठती हैं। इसी प्रकार भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य की बहिया आने पर मन की वृत्ति जो विषयलीन थी वह विषयों से उठकर उच्च स्वरूपज्ञान में तदाकार हो जाती है। आध्यात्मिक साधना का यही फल है कि हमारा मन निम्नस्तर से उठकर उच्चस्तर पर पहुंच जाये, विषयोन्मुख मन आत्मोन्मुख हो जाये। साधक साधना में जितना आगे बढ़ता जाता है उतना वह सांसारिक प्रभाव से ऊपर उठता जाता है। पूर्ण आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ है पूर्ण अप्रभावित जीवन। जिसके मन से मोह-शोक बीत गये हैं वही मानो अपने लक्ष्य को पा गया है। उसका मन "बोलै एकै बानी" एक ही बात बोलता है, उसकी अंतरात्मा में एक ही आवाज उठती है—निजस्वरूप की स्थिति। वह सदैव आत्माराम होता है।

"वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी।" बिना नर तथा बिना वीर्य के गर्भ रहना एक आश्चर्य है। यहां यही आश्चर्य घटित होता है। यह मलिन मनोवृत्ति बिना अन्य सहयोग के केवल भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के सहारे स्वयमेव बदल जाती है। जो भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य को अपने जीवन में उतार लेता है उसका काग-मन कोयल बन जाता है तथा बकु-चित हंस हो जाता है। यह सर्वविदित है कि विष को शोध लेने पर वह अमृत-औषध हो जाता है। इसी प्रकार मलिन मन शुद्ध-बुद्ध बन जाता है।

"नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला।" इस शब्द की दूसरी पंक्ति की नारी तो भक्ति अर्थ वाली है जो ज्ञान-वैराग्य पुत्रों को जन्म देने वाली है। परन्तु इस सातवीं पंक्ति की नारी माया है जो सारे पुरुषों को खाने वाली है। यहां नारी का अर्थ नारी-देह नहीं है; क्योंकि नारी-देह में भी तो चेतन-पुरुष निवास करता है। 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात शरीर रूपी पुर में शयन करने वाला चेतन ही पुरुष है। चेतन जीव मात्र पुरुष हैं। उन्हें खाने वाली, अर्थात पथभ्रष्ट करने वाली मनोमालिन्यता रूपी माया है। इस माया ने सबको भटकाया है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि अकेला रहना चाहिए।

यह अकेला हो जाना ही पराभक्ति है। जैसा कि संस्कृत-हिन्दी कोश का उदाहरण देकर ऊपर बताया जा चुका है कि पृथक हो जाना भक्ति है। पहली भक्ति तो सत्पथ दिखाने वाले सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा-प्रेम है, परन्तु अंतिमी भक्ति जीव का माया से अलग हो जाना है। माया भी नारी है और भक्ति भी नारी है। माया वह नारी है जो जीवों को बन्धन देती है, और भक्ति वह नारी है जो जीवों को माया से छुड़ाकर असंग, अकेला, केवल, निराधार बनाकर मुक्त कर देती है। इसलिए कल्याणेच्छुक माया से हटकर भक्तिपथ में लगता है। जीव का शुद्ध स्वरूप असंग है। मन के विकार माया हैं। उनसे हटकर अपने

चेतन स्वरूप में स्थित होना ही अकेला हो जाना है। सद्गुरु कबीर का यह बहुत मार्मिक वचन है "नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला।" साधक की भलाई इसी में है कि वह माया से हटकर असंग हो जाये। माया और भक्ति दोनों मानसिक दशाएं हैं। मन की वह वृत्ति जिससे जीव विषयों की ओर खिंचता है, माया है; और मन की वह वृत्ति जिससे जीव विषयों से सर्वथा पृथक होकर असंग हो जाता है, भक्ति है। इस प्रकार माया और भक्ति दोनों नारी वर्ग है, परन्तु एक अकल्याणकारी है तथा दूसरी कल्याणकारी। सद्गुरु इस पंक्ति में नारी शब्द से माया को लेते हैं और कहते हैं कि इसने सारे पुरुषों को खा लिया है, माया ने सारे जीवों को भटका दिया है; अतः इससे अलग होकर अकेला हो जाना चाहिए।

व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो साधक सेविका, शिष्या, भक्तिन आदि मानकर मोह-वश नारियों का संग करते हैं, उनकी साधना थोड़े ही दिनों में स्वाहा हो जाती है। साधक या साधु संग-दोष से ही पतित होते हैं। साधिकाओं के लिए पुरुष कुसंग हैं तथा साधकों के लिए नारियां कुसंग हैं। कहना चाहिए विरोधी आलंबन कुसंग है। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन हैं। संग-दोष से रहित रहकर साधारण साधक और साधिका भी अपनी साधना में आराम से बने रह सकते हैं और संग-दोष कर बड़े-बड़े उग्र साधक तथा साधिका भी पतन के गर्त में चले जाते हैं। संग-दोष से मोह उत्पन्न होता है और मोह उत्पन्न होने पर मन में भ्रम-सुख का ऐसा भंवर उठता है कि साधक पहले से जाने हुए ज्ञान की हजारों युक्तियां भी भूल जाता है, और वह काम-धारा में बह जाता है। बह जाने के बाद उसे होश होता है। परन्तु तब तक वह अपने आप को खो चुका रहता है। अतएव सद्गुरु का यह वचन बड़े काम का है "ताते रहै अकेला।"

तुम शुद्ध चेतन हो, पूर्णकाम तथा पूर्णतृप्त हो। तुम्हें दूसरे की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम मन की कल्पनाओं से गढ़कर दूसरा आधार खड़ा करते हो, यह तुम्हारे भटकने का कारण है। इस कल्पना-नारी ने तुम्हें खूब भटकाया है। अब इसे छोड़कर अकेला हो जाओ। मन की कल्पनाएं ही तो द्वैत खड़ा करती हैं। यदि मन की कल्पनाएं न रहें तो जीव अकेला है ही। यह जीव का अकेलापन, कैवल्य, असंगत्व तथा निराधार स्थिति ही तो इसकी वास्तविकता है। तुमसे अलग की वस्तु, तुमसे अलग से कल्पित ईश्वर या भगवान चाहे जितने आनन्द के सागर हों, वे तुम्हारा स्वरूप नहीं बन सकते। तुम अपने से अलग जो कुछ खड़ा करते हो, वह तुम्हारे मन की मान्यता है, अवधारणा है। वही माया है। वही तुम्हें छलती है। उसे छोड़कर अकेला रहने का अभ्यास करो। यह गुरु-वाक्य कभी नहीं भूलो "ताते रहै अकेला।"

"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" यह महाप्रातिभ, ज्ञानसागर, संतशिरोमणि कबीर देव की विनम्र घोषणा है कि जो अबकी—इस नर-जन्म में आज उक्त वास्तविकता को बूझ ले, समझ ले, वह गुरु है, महान है, कृतार्थ है। मैं उसका चेला बनने के लिए तैयार हूं। जो आज मन की सारी भ्रांतियों को काटकर फेंक दे, मनःकल्पना-नारी की संगत छोड़कर अकेला हो जाये, मन की सारी मान्यताओं के जाल को तोड़कर स्वरूपज्ञान एवं आत्मबोध में निमग्न हो जाये, वह महान है। मैं उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं। मैं उसके सामने विनम्र हूं।

इन्हीं जैसी पंक्तियों का भावानुवाद करते हुए बीजक की प्रथम भावात्मक टीका लेखक सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"हे शिष्य ! जो वास्तविक निर्णय को समझता तथा धारण करता है, वही कृतार्थ हो जाता है। वही व्यक्ति सद्गुरु है, सद्गुरु का शिष्य है, संत है तथा अपने-पराये पर दयालु है।"[1]

जैसे रमैनी प्रकरण की प्रथम रमैनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थों वाली तथा बीजक के मुख्य कथ्यों का सार है, वैसे इस दूसरे प्रकरण के प्रथम शब्द का भाव भी अत्यन्त गंभीर एवं हृदयस्पर्शी है। इस शब्द में पहली बात है कि सद्गुरु ने 'संतो' शब्द से संबोधित कर श्रोताओं को आदेश दिया है कि तुम लोग सच्चे सद्गुरु की भक्ति करो। उनके प्रति विनयी बनो तथा उनके सत्संग से अपने स्वरूप को पहचानो। इसके साथ-साथ छह पंक्तियों तक भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के महत्त्व को प्रकट किया गया है। अंतिम दो पंक्तियों में सद्गुरु बताते हैं कि माया रूपी नारी से हटकर अकेला हो जाओ। मन का माया-मोह त्यागने पर ही जीव असंग होता है; और ऐसे कृतार्थ जीव की प्रशंसा में कबीर देव स्वयं उसका दास बनने के लिए तैयार हो जाते हैं, यह उनकी महान उदारता है। साखी प्रकरण में भी उन्होंने कहा है—

दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥ 322॥

सावधानी ही साधना है

शब्द-2

सन्तो जागत नींद न कीजै॥ 1॥
काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥ 2॥

---

1. हे शिष्य निर्णय जो लखै, तेही भया निहाल।
तेई गुरु तेई शिष्य गुरु, तेई साधु दयाल॥ 258॥ (पंचग्रन्थी, गुरुबोध, प्रश्न 20)

उलटी गंग समुद्रहि सोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै॥ 3॥
नौग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिम्ब प्रकासै॥ 4॥
बिनु चरणन को दहुँदिश धावै, बिनु लोचन जग सूझै॥ 5॥
संशय उलटि सिंह को ग्रासे, ई अचरज कोइ बूझै॥ 6॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सीधे सो जल भरिया॥ 7॥
जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करें, सो गुरु प्रसादै तरिया॥ 8॥
बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर किछउ न सूझै॥ 9॥
उलटा बाण पारिधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै॥10॥
गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै॥11॥
नटवट बाजा पेखनी पेखै, अनहद हेत बढ़ावै॥12॥
कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी॥13॥
धरती उलटि अकाशहि बेधै, ई पुरुषन की बानी॥14॥
बिना पियाला अमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै॥15॥
कहहिं कबीर सो युग युग जीवै, जो राम सुधारस चाखै॥16॥

शब्दार्थ—कल्प=चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की एक काल्पनिक अवधि। देह=स्वरूप। गंग=सुषुम्णा। समुद्रहि=समुद्र को, शरीर के भीतर सुषुम्णा के पथ में माने गये समुद्र। शशि=इडा, नाक के बांये छिद्र की नाड़ी। सूरहि=सूर्य, पिंगला, नाक के दायें छिद्र की नाड़ी। नौग्रह=पांच ज्ञान-इंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी तथा चार अंतःकरण—मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार। रोगिया=योगी। बिम्ब=छाया। संशय=अज्ञान। सिंह=जीव। प्रसादै=कृपा से। पारिधिहि=शिकारी, साधक योगी। सूरा=वीर, निष्पक्ष चिंतक। गायन=गाने वाले मनुष्य जीव। अनबोला=न बोलने वाला ईश्वर। नटवट=नटवत। बाजा=सींगी, सींग का बाजा, जिसे योगी बजाते हैं। पेखनी=मुद्रा। अनहद=अनाहतनाद। हेत=प्रेम। कथनी=बात। बदनी=शर्त रखना, हठाग्रह। जोवै=देखते हैं। राम सुधारस=स्वरूपस्थिति का आनन्द।

भावार्थ—हे संतो! माया से सावधान रहो, मोह-नींद में बेभान नहीं होना॥ 1॥ तुम्हारे शुद्ध स्वरूप चेतन को काल नहीं खा सकता, न तुम्हारे अनादि तथा अनंत आत्मिक जीवन को कल्प-जैसी बड़ी अवधि व्याप्त सकती है और न तुम्हारे अखण्ड स्वरूप को कभी जीर्णता एवं क्षीणता आ सकती है॥ 2॥ इस स्वरूपज्ञान, स्वरूपविचार तथा स्वरूपस्थिति को छोड़कर हठयोगी लोग स्थूल क्रिया में पड़े रहते हैं। वे नीचे मूलाधार से सुषुम्णा को उठाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञाचक्र को वेधते हुए ऊपर सहस्रसार में पहुंच जाते हैं। रास्ते में सात समुद्र पड़ते हैं। सुषुम्णा रूपी

गंगा उन्हें सोखती हुई तथा ऊपर पहुंचकर शशि-सूर अर्थात इडा तथा पिंगला को अपने में समेटती हुई शिखरस्थानीय भ्रमरगुफा में पहुंच जाती है, जहां शुद्ध जल से भरे समुद्र से योगी अमृत-रस पान करता है॥ 3॥ भौतिक जल को अमृत-रस मानकर पीने वाले योगी नाम के रोगी पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अंतःकरण रूपी नौ ग्रहों को वश में करके योग-समाधि में बैठ जाते हैं और जल में अपने स्थूल शरीर की छाया देखने के समान भौतिक नाद, बिन्दु, ज्योति आदि जो मन की अवधारणा या तत्त्वों के कार्य होते हैं, उन्हीं को अपना लक्ष्य मान लेते हैं॥ 4॥

योगी लोग यह डींग हांकते हैं कि हम बिना पैरों के केवल सिद्धि द्वारा दसों दिशाओं में दौड़ सकते हैं और हमें बिना आंखों के अर्थात आंखें मूंदकर सारा संसार दिखाई देता है॥ 5॥ सद्गुरु कहते हैं कि इस आश्चर्यजनक घटना को कोई बिरला ही समझने का प्रयास करेगा कि शशा ने अपने ऊपर हमला करने वाले सिंह को उलटकर खा लिया है। अर्थात अज्ञान का शिकार करने वाले योगी-जीव को अज्ञान ने ही मार गिराया॥ 6॥ उलटे घड़े में पानी नहीं भरता, पानी तो सीधे घड़े में भरता है। अर्थात मन के भास-अध्यास रूपी उलटी बुद्धि से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु स्वरूपज्ञान रूपी शुद्ध एवं सीधी बुद्धि से प्राप्त होती है॥ 7॥ जिस संसार-सागर से तरने के लिए लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से नाना कर्मकांड, योगकांड आदि प्रपंच करते हैं वह तो गुरुकृपा से आत्मबोध प्राप्त होने पर सहज ही हो जाता है॥ 8॥ योगी लोग कहते हैं कि हम समाधि रूपी गुफा में बैठकर सारे संसार को देखते हैं और बाहर के नेत्रों से तो संसार के लोगों को कुछ भी नहीं दिखाई देता॥ 9॥ सद्गुरु कहते हैं कि योगियों की ऐसी धारणा तो वैसे है जैसे बाण उलटकर शिकारी को ही लग जाये। अर्थात चले थे अज्ञान को मारने, तो उलटकर स्वयं अज्ञानग्रसित हो गये। व्यवहार को झुठलाने वाला ज्ञान, ज्ञान नहीं अज्ञान है। परन्तु इस तरह कोई निष्पक्ष चिंतक ही समझ सकता है॥ 10॥ अति धार्मिकता की सनक ऐसी है कि मनुष्य, जो सारी वाणियों का कहने वाला है, उसे कहा जाता है कि वह अल्पज्ञ है। वह तो कुछ भी नहीं कह सकता। सद्गुरु कहते हैं कि ये लोग अनबोला-ईश्वर को सारे वेद एवं धर्मशास्त्रों के व्याख्याता बताते हैं॥ 11॥ योगी तमाशा दिखाने वाले नटों के समान नाना प्रकार के आसन दिखाते हैं, सींगी बाजा बजाते हैं, मुद्रा देखते हैं, और अनाहतनाद सुनने में प्रेम बढ़ाते हैं॥ 12॥ वे अपनी बातों का ही हठाग्रह रखते और उन्हें पक्की समझते हैं। उनकी सारी बातें अकथ कहानी अर्थात लालबुझक्कड़ी किस्सा है॥ 13॥ पूर्व पुरुषों की वाणी सुन-सुनकर धरती के मनुष्यों का मन आकाश को वेध रहा है। अथवा योगी लोग पिंड का श्वास उठाकर ब्रह्मांड को वेधते हैं॥ 14॥ व्यक्ति के हृदय में

स्वरूपज्ञान रूपी सरिता-जल भरा हुआ है, लेकिन हठयोग के भुलावे में पड़कर योगी लोग लम्बिका योग द्वारा बिना पात्र के ही अमृतपान करते हैं। अर्थात वे टपकती हुई लार को अमृत मानकर लम्बिका योग द्वारा पीते हैं॥ 15॥ सद्गुरु कहते हैं कि सदा के लिए अमरत्व तो वही पाता है, जो राम का अमृत-रस पीता है। राम का अमृत-रस है स्वरूपस्थिति॥ 16॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर का यह महासूत्र "संतो! जागत नींद न कीजै" साधकों के लिए काफी है। सावधानी ही साधना है। यदि हमारे मन में कामवासना आ गयी, तो हम जाग नहीं रहे हैं। यदि मोह, लोभ, भय, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि मन में आ गये, तो हम असावधान हैं। हम जिस क्षण जागते होंगे, हमारे मन में कामादि कोई विकार आ ही नहीं सकता। चिंता, विकलता, दुख क्यों सताते हैं, क्योंकि हम असावधान हैं। निरंतर जाग्रत व्यक्ति के पास मोह, शोक फटक नहीं सकते। इसलिए सद्गुरु कहते हैं, हे संतो! जागते रहो, नींद न करो।

आदमी हानि, वियोग, मृत्यु आदि के भय से सदैव पीड़ित रहता है। सद्गुरु हमें याद दिलाते हैं कि तुम कौन और कैसे हो। वे कहते हैं "काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै।" तुम अविनाशी चेतन हो। तुम्हें काल नहीं खा सकता। जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। तुम शुद्ध चेतन हो। तुम तो अनादि, निर्विकार, अकृत्रिम एवं नित्य हो, फिर तुम्हें काल का डर क्यों होना चाहिए। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का एक कल्प मान रखा है। ऐसे-ऐसे असंख्य कल्प बीत चुके हैं तथा असंख्य बीतेंगे, परन्तु तुम्हारा अंत नहीं होगा। शारीरिक जीवन तुम्हारा असली जीवन नहीं है। तुम्हारा असली जीवन आत्मिक है। शारीरिक जीवन आदि-अन्त वाला होता है। यह बिजली के समान चमका और गया। परन्तु आत्मिक जीवन अनादि तथा अंनत है। तुम्हारे आत्मिक जीवन के सामने करोड़ों कल्प सेकेंड के तुल्य हैं। अतएव तुम्हारे में "कल्प नहिं ब्यापै" बिलकुल सार्थक है।

इतना ही नहीं "देह जरा नहिं छीजै" तुम्हारी देह को जरा क्षीण नहीं कर सकती। तुम्हारी असली देह तुम्हारा चेतन स्वरूप है। यहां देह का अर्थ यह हाड़-चाम की देह नहीं है, किन्तु चेतनस्वरूप है। तुम्हारा चेतनस्वरूप, तुम्हारा आत्मस्वरूप कभी क्षीण नहीं हो सकता। फिर तुम किसलिए डरते हो? किसकी चिंता करते हो? तुम अमरत्व चाहते हो? तुम्हें पता नहीं है कि तुम अमर ही हो।

उक्त दो पंक्तियों में सद्गुरु अपने सिद्धान्त की बातें बताते हैं। वे कहते हैं कि तुम अपने मन के भुलावे से सावधान रहो। तुम बाहर अमरता न खोजो। तुम स्वयं अमृत हो, अमर हो।

कबीर साहेब के जमाने में योगियों का बड़ा बोलबाला था। कुछ आत्माराम में रमने वाले सच्चे योगी भी रहे होंगे, परन्तु ज्यादातर तो दिखावा में फंसे हुए लोग थे। कितने ही योगी हठयोग साधकर कल्पित ऋद्धि-सिद्धि चमत्कार आदि दिखाते थे और काया-कल्प कर शरीर को अमर बनाने के व्यामोह में उलझे थे। लोगों में वहम था कि पहले के बड़े-बड़े सिद्ध योगी शरीर से अमर हैं। ऐसे भ्रम में पड़े हुए लोगों को कबीर साहेब सावधान करते हैं, जिसे हम आगे देखें।

योगी लोग कल्पना करते हैं कि गुदा के पास मूलाधार, पेडू में स्वाधिष्ठान, नाभि में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कंठ में विशुद्धि तथा भृकुटी में आज्ञा नाम के चक्र हैं। गुदा से लेकर सिर तक जाने वाली गुरियादार रीढ़ की हड्डी मेरुदंड नाम से जानी जाती है। इसमें इडा बायें से, पिंगला दायें से तथा सुषुम्णा बीच से—इस प्रकार तीनों नाड़ियां ऊपर सिर से नीचे गुदा के पास तक गयी हैं। "ये नाड़ियां अधोवदना अर्थात नीचे मुखवाली कमलतंतु के सदृश हैं। ये मेरुदंड में लिपटी हुई चंद्र, सूर्य और अग्नि के तुल्य हैं। इडा चंद्रवत, पिंगला सूर्यवत तथा सुषुम्णा अग्निवत है।"[1] ये तीनों नाड़ियां गंगा, यमुना तथा सरस्वती भी कहलाती हैं। इनमें सुषुम्णा गंगा है।

हठयोगी लोग नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करके इंद्रियों को साफ करते हैं और सूक्ष्म आहार-व्यवहार कर श्वास को साधते हैं। तब सुषुम्णा रूपी गंगा नीचे से उलटकर ऊपर को बहने लगती है। सुषुम्णा-गंगा चांद-सूर्य को अर्थात इडा-पिंगला को अपने में समेटकर ऊपर को बह चलती है। रास्ते में सात समुद्र पड़ते हैं—खारा, मीठा, क्षीर, मदिरा, घृत, दधि तथा जल के। योनिस्थान में खारा, पेडू में मीठा, नाभि में क्षीर, हृदय में मदिरा, कंठ में दधि, त्रिकुटी में घृत तथा शिखरस्थान भ्रमरगुफा में स्वच्छ जल का समुद्र माना है। इन सब जगहों पर द्वीप तथा पर्वत आदि की भी कल्पना की गयी है।[2] योगी द्वारा परिचालित सुषुम्णा-गंगा उलटकर ऊपर बहती हुई इन समुद्रों को सोखती चलती है और शशि-सूर (इडा-पिंगला) नाड़ी को भी अपने में लय कर लेती है, यही 'उलटी गंग समुद्रहि सोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै" का अभिप्राय है।

ब्रह्मरंध्र एवं भ्रमरगुफा जो ऊपर खोपड़ी को कहते हैं, उसमें सातवां समुद्र माना है जिसमें स्वच्छ जल है। वही अमृत-रस है। उसी को पीकर योगी अमर होता है। ऐसी योगियों की धारणा है।

---

1. नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।
षष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ (शिवसंहिता 2/17)
2. विस्तार के लिए देखिए पंचग्रन्थी, टकसार, चौपाई 22 तथा 23; जिनमें 28 चौपाइयां तथा चार दोहे हैं।

"नौग्रह मारि रोगिया बैठो"—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार—ये पांच ज्ञान इन्द्रियां एवं चतुष्टय अंतःकरण नौग्रह हैं। जो ग्रस ले, पकड़ ले, वह ग्रह है। इंद्रिय और अंतःकरण जीव को ग्रस लेते हैं, पकड़ लेते हैं; इसलिए ये ग्रह हैं। योगी लोग इनका भी दमन कर समाधि में बैठ जाते हैं। सद्गुरु ने यहां योगियों को व्यंग्य में 'रोगिया' कहा है। क्योंकि इन्हें शारीरिक योग में अमरत्व पाने के व्यामोह का रोग लगा है। योगी लोग जब समाधि में पहुंचकर कभी नाद सुनते, कभी बिन्दु या ज्योति देखते हैं, तब वे उन्हें ही परमात्मा मान लेते हैं। सद्गुरु कहते हैं "जल में बिम्ब प्रकासै" यह तो पानी में पड़ी हुई छाया के समान मन के भास-अध्यास या तत्त्वों के कार्य हैं। जिन्हें तुम देख और सुन रहे हो, वे परमात्मा कैसे हो जायेंगे? वे तो दृश्य जड़ हैं। परमात्मा-शुद्धात्मा तो स्व-स्वरूप चेतन है, जो स्व के रूप में विद्यमान है।

"बिनु चरणन को दहुँदिश धावै, बिन लोचन जग सूझै।" योगी लोग अपनी सिद्धि का बढ़-चढ़कर वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि हम बिना पैरों के सब दिशाओं में दौड़ सकते हैं। हमें आंखें बन्द करने पर समाधि में संसार के सारे गुप्त-प्रकट पदार्थ दिखाई देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह इनकी बकवास है। चमत्कारिक ढंग से वर्णन की जाने वाली सारी ऋद्धि-सिद्धियां मिथ्या प्रलाप हैं। ऐसे प्रलाप का प्रचलन वैदिक युग से ही है। जैसे "मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सारे पदार्थों को देख सकते हैं। मुनि लोग वायुमार्ग पर घूमने के लिए अश्व स्वरूप हैं।"[1] नाना काल्पनिक सिद्धियों की चर्चा जनमानस में थी, तो महर्षि पतंजलि[2] ने उन अंधविश्वासों को अपने योगदर्शन में सूत्रबद्ध कर विभूतिपाद नाम का एक अध्याय ही लिख दिया, जिसमें बताया गया कि सिद्ध योगी सारे संसार का ज्ञाता, आकाश में उड़ने वाला, छोटा या बड़ा रूप बना लेने वाला आदि हो जाता है।[३]

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "संशय उलटि सिंह को ग्रासे" वाली बात हुई। जैसे कोई सिंह किसी शशा पर शिकार करने के लिए दौड़ा हो और शशा ही उलटकर सिंह को धर दबोचे वैसे योगी लोग संशय, अज्ञान, अविद्या आदि का नाशकर मुक्ति लेने चले तो वे संशय के ही शिकार हो गये। जितनी ऋद्धि-सिद्धियां कारण-कार्य-व्यवस्था का उल्लंघन करने वाली, तर्कहीन तथा चमत्कारी हैं, वे सब मनुष्य को मूढ़ बनाने वाली, संशय, अज्ञान तथा अविद्या

---

1. ऋग्वेद 10/136/4-5।
2. पतंजलि का काल ईसा के सौ वर्ष पूर्व माना जाता है।
3. विस्तार के लिए देखिए योगदर्शन विभूतिपाद के 14 से 49 सूत्र। कबीर दर्शन में चौथे अध्याय में योगदर्शन का "सिद्धियां' शीर्षक देख सकते हैं।

में डालने वाली हैं। मैंने कहा शशा ने सिंह को खा लिया। यह आश्चर्यमय कथन है। परन्तु इसे कोई निष्पक्ष विवेकी समझेगा कि संशय और अज्ञान योगियों तथा अन्य जीवों को भटका रहे हैं।

"औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सीधे सो जल भरिया।" घड़ा औंधा अर्थात उलटा हो तो उसमें पानी नहीं भरा जा सकता। अथवा किसी जलाशय में घड़ा औंधा पड़ा हो तो उसमें पानी नहीं भर सकता। पानी तो उसमें तब भरेगा जब वह सीधा हो जाये। इसी प्रकार उलटी बुद्धि से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिए सीधी एवं शुद्ध बुद्धि चाहिए। जो कुछ मन तथा इन्द्रियों द्वारा प्रतीतमान है उसमें रमने से स्वरूपस्थिति कदापि नहीं हो सकती। योगी लोग विवेक द्वारा अपने आप को न समझकर नाद, बिन्दु, ज्योति आदि को ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं जो श्रुत या दृश्य विषय हैं। इतना ही नहीं, वे झूठी ऋद्धि-सिद्धि एवं लोकरंजन में भी उलझे रहते हैं। यह भी सच है कि सच्चे योगी लोकरंजन तथा मिथ्या ऋद्धि-सिद्धि के चक्कर से दूर होते हैं, परन्तु वे भी अपनी कल्पित अवधारणा के भास-अध्यास से अपने को नहीं मुक्त कर पाते। सभी दृश्यों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही सीधा तथा शुद्ध पथ है।

"जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करें, सो गुरु प्रसादै तरिया।" संसार-सागर से तरने के लिए कोई योग करता है, कोई कर्मकांड का अनुष्ठान करता है, कोई नाना देवी-देवताओं की उपासना करता है तथा कोई अन्य अनेक उपायों का आश्रय लेता है। कबीर देव कहते हैं कि यह काम तो गुरु-कृपा से सहज ही हो जाता है। यहां कोई यह अर्थ न लगा ले कि गुरु कृपा कर देगा, आशीर्वाद दे देगा और हम मुक्त हो जायेंगे। गुरु-कृपा है उनके द्वारा शिष्य को स्वरूपज्ञान का उपदेश दिया जाना। गुरु बन्धनों की परख कराता है, जिसको मुक्त होना है, उस जीव के स्वरूप का परिचय कराता है। जिस रहनी में रहकर पूरा जीवन बिताना चाहिए जिससे जीवन्मुक्ति की सिद्धि हो, इसका वह उपदेश करता है तथा अपनी प्रत्यक्ष रहनी से प्रेरणा देता है। अतएव मुमुक्षु को चाहिए कि वह पूर्ण सद्गुरु की खोज करे। पूर्ण सद्गुरु पाकर उनके चरणों में सर्वथा समर्पित हो जाये। सारी भ्रांतियों से रहित स्वरूपज्ञान तथा निष्काम रहनी से सम्पन्न पुरुष ही सच्चा सद्गुरु है। ऐसे सद्गुरु की शरण में समर्पित होकर रहने से अपने आप जो होना चाहिए वह होने लगता है। पूर्ण सद्गुरु अमृत-रस टपकता हुआ एक व्यक्तित्व है और शिष्य खुला हुआ पात्र, जिसमें वह रस भरता जाता है। गुरु वह है जो केवल अमृत हो। जिसके पास दुख नाम की वस्तु न हो, जो सदैव कृतकृत्य हो, आनन्दकंद हो। और शिष्य खुलापात्र—निष्कपट व्यक्तित्व !

"बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर किछउ न सूझै।" योगी लोग यह ढोल ज्यादा पीटते हैं कि समाधि में बैठकर हम सारे संसार की गुप्त-प्रकट वस्तुओं को देखते हैं। बाहर के चर्मचक्षु से तो कुछ भी नहीं दिखता। यह ठीक है कि समाधि से शांति मिलती है, परन्तु उसमें संसार की सारी गुप्त-प्रकट वस्तुएं दिखती हैं, यह एक मिथ्या महिमा है। आज तक कोई एक भी ऐसा योगी प्रत्यक्ष में नहीं आया कि वह ध्यान लगाकर यह बता दे कि पृथ्वी में कहां-कहां धातुएं, कोयला, तेल तथा अन्य खनिज पदार्थ हैं। यदि ऐसा कोई ध्यान मात्र से बता दे तो विश्व का बहुत बड़ा कल्याण हो। ध्यान द्वारा सब कुछ जान जाने की बात यदि सिद्ध हो जाये तो संसार की अधिकतम समस्याएं बड़े सरल ढंग से हल हो जायें। अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि यह योगियों द्वारा सर्वज्ञता की बात करना एक ढकोसला है, छलावा है और अपने आप को बहुत बड़ा या ईश्वर सिद्धकर जनता से पुजवाने की भावना है। अतः ऐसे भ्रम में किसी को नहीं पड़ना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "उलटा बाण पारधिहि लागै" वाली बात हुई। शिकारी ने बाण मारा शिकार पर और वह लौटकर शिकारी को ही लग गया। सत्य ज्ञान के लिए योग किया जाता है और योग का फल हुआ ज्ञान के क्षेत्र में भ्रम पैदा करना। समाधि में उपलब्ध ज्ञान सच्चा है तथा चर्मचक्षु से देखकर प्राप्त हुआ ज्ञान झूठा है—इस कथन का अर्थ इतना ही हो सकता है कि समाधि का फल आत्मज्ञान है और वह उच्चतम है, जीवन का परम फल है, और चर्मचक्षु से देखकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भौतिक है, नाशवान है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि समाधि-ज्ञान से जीवन की सारी समस्याएं हल हो जायेंगी और चर्म-चक्षु से प्राप्त ज्ञान निरर्थक है। पहली बात तो समाधि से केवल शांति मिलती है, संसार की सारी गुप्त-प्रकट वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। हां, एकाग्रचित व्यक्ति बाहरी अनुसंधान में भी सफल होता है। चर्म-चक्षु से देखकर ही व्यवहार के सारे काम संपादित होते हैं। अध्यात्म इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि व्यवहार की अवहेलना हो तथा व्यवहार इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि अध्यात्म का तिरस्कार हो। दोनों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। यह अवश्य समझना चाहिए कि व्यवहार मात्र साधन है, जीवन का साध्य केवल आध्यात्मिक बोध एवं शांति है। सद्गुरु कहते हैं "सूरा होय सो बूझै" इसे जो कोई निष्पक्षता में शूर-वीर होगा वही समझ सकता है। अंध-परम्परा से हटकर सत्य तथा असत्य की परख करना और असत्य पक्ष को छोड़कर केवल सत्य की उपासना करना बहुत बड़े साहस तथा शूर-वीरता का काम है।

"गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।" मनुष्य ही सभी वेद-शास्त्र, कुरान-बाइबिल आदि का गायन करने वाला है। इतना ही नहीं, समस्त

प्रकार के ज्ञान-विज्ञान मनुष्य की देन हैं; परन्तु खेद है कि योगी, ज्ञानी, पंडित आदि यही कहते हैं कि मनुष्य तुच्छ है। वह कभी प्रामाणिक बात नहीं कह सकता है। आज के युग में भी कितने विद्वान नामधारी कहते हैं कि हम मनुष्यों की बनायी पुस्तकों पर विश्वास नहीं करते। हम तो ईश्वर-वाणी को ही मानते हैं। उन भोले लोगों को अभी तक इतनी भी अकल नहीं आयी है कि वेद, बाइबिल, कुरानादि सारी पुस्तकें मनुष्यों की रचनाएं हैं और सब में कुछ पक्की तथा कुछ कच्ची बातें हैं। इसलिए सभी वाणियों पर परख की कसौटी लगाना कर्तव्य है। गायन करने वाला मनुष्य है, ईश्वर तो अनबोला है। ईश्वर तो मूक है। ईश्वर अपने नाम पर होते हुए रक्तपात पर भी नहीं बोलता, तो उसकी मूकता के लिए अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता ! लेकिन ज्ञानी नामधारी यह कहते हैं कि अनबोला ईश्वर ही ज्ञाता-प्रवक्ता है और बोलता मनुष्य तुच्छ है। सद्गुरु कहते हैं कि मानव का मूल्य गिराकर मानव अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा है।

"नटवट बाजा पेखनी पेखै, अनहद हेत बढ़ावै।" योगी लोग नट के समान हाट-बाजार में चौरासी आसन दिखाते हैं, जमीन में समाधि लेते हैं। यह सब कर संसार के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ये सींगी बाजा बजाते हैं। समाधि में अनाहतनाद सुनते हैं, जो खोपड़ी में उठती हुई नसों की झनकारें हैं। उसमें वे शंख, भेरी, शहनाई, मृदंग, करताल, पखावज आदि बाजाओं के बजने की कल्पना कर उसी में मग्न हो जाते हैं। फिर 'पेखनी पेखै' मुद्राएं देखते हैं। खेचरी, भूचरी, चांचरी, अगोचरी, अलक्ष्य आदि मुद्राएं हैं। जिह्वा को उलटाकर तथा तालुमूल में लगाकर खुले नेत्रों से त्रिकुटी (दोनों भौहों के बीच) में देखना, जिसमें मोती झड़ते हुए प्रतीत होते हैं—खेचरी मुद्रा है। दोनों नेत्रों को नासिकाग्र पर रखते हुए नाभिस्थल या पृथ्वी पर देखना जिसमें प्रकाश दिखता है—भूचरी मुद्रा है। हाथ की उंगुलियों से दोनों नेत्रों के पलकों को दबाकर खोलने से चम-चम दिखता है, यह चांचरी मुद्रा है। बाहर से मन समेटकर हृदय में एकाग्र करने से श्वास स्थिर होकर प्रकाश दिखता है, यह अगोचरी मुद्रा है। अंगुष्ट मात्र ज्योति का हृदय में ध्यान करते-करते शरीर का भान भूल जाना—अलक्ष्य मुद्रा है। इस प्रकार की अनेक मुद्राएं योगी लोग साधते हैं और वे अनाहतनाद सुनने में ही ज्यादा प्रेम बढ़ाते हैं। ये सब दृश्य तथा श्राव्य होने से जड़ हैं। जड़ में ध्यान लगाने से कभी स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। पहले चंचल मन को रोकने के लिए कोई जड़ का भी अवलंब लेता है तो बुरा नहीं, किन्तु यदि उसे ही लक्ष्य मान लेता है तो यह अबोध है।

"कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी।" योगी लोग अपनी बातों को शर्तिया समझते हैं। उनके ख्याल से उनकी सारी बातें सच हैं। सद्गुरु

कहते हैं—"ई सब अकथ कहानी" है। इनके घोषित ऋद्धि-सिद्धि तथा नाद, बिन्दु आदि के परम लक्ष्य होने की बात ऐसी कहानी है जो न कहने योग्य है। ये सब थोथे हैं। इन सबके मूल में है प्राचीन पुरुषों का वाणी-प्रमाण—"ई पुरुषन की बानी"। इसलिए "धरती उलटि अकाशहि बेधै" ये योगी लोग नीचे मूलाधार से चलकर ऊपर ब्रह्मांड की भ्रमरगुफा में पहुंचते हैं। और "बिना पियाला अमृत अँचवै" खोपड़ी में अमृतवल्लरी का पान करते हैं। जड़ भास को ही अमृत मानने का भ्रम करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि स्वरूपज्ञान का सागर तुम्हारे हृदय में भरा है और तुम मिथ्या अमृत की आशा में खोपड़ी की गलियां छान रहे हो। सद्गुरु अपनी अंतिम बात बताते हुए कहते हैं—

"कहहिं कबीर सो युग युग जीवै, जो रामसुधारस चाखै।" योगी तथा अन्य लोग तो यही चाहते हैं कि हम युग-युग जीते रहें, सदा के लिए अमर हो जायें। सद्गुरु कहते हैं कि तुम स्वाभाविक अमर हो। तुम्हारा स्वरूप तो अमर राम है। अतः देहाभिमान छोड़कर रामामृत-रस का पान करो। नाद, शब्द, बिन्दु, ज्योति आदि का चक्कर छोड़ो। मूर्द्धा द्वार में टपकते जल को अमृत मानकर लम्बिका योग द्वारा पीने का प्रपंच त्यागो। हठयोग का चक्कर छोड़कर चित्त को सहज एकाग्र करो और अपने राम में लगाओ। तुम्हारा चेतन स्वरूप राम है, अविनाशी है, अमृत है। उसके विचार में मग्न हो जाओ तथा आगे चलकर विचारों को भी छोड़कर केवल अपने स्वरूप-राम में स्थित हो जाओ। स्वरूपस्थिति ही रामसुधारस है। इसको चखने वाला अभय है, अमर है, मुक्त है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! जागते रहो, नींद नहीं करना। असावधान नहीं होना। आत्मविचार एवं स्वरूपस्थिति छोड़कर हठयोगादि के भास-अध्यास में नहीं पड़ना। तुम्हारे स्वरूप को न काल खा सकता है, न उसे समय माप सकता है और न उसका क्षय हो सकता है। तुम अमर हो, पूर्णकाम हो, निर्विकार हो। इस भाव में सावधान रहो।

घर के झगड़े का सुलझाव

शब्द-3

सन्तो घर में झगरा भारी॥ 1॥
राति दिवस मिलि उठि उठि लागें, पाँच ढोटा एक नारी॥ 2॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी॥ 3॥
कोइ काहू का हटा न मानै, आपुहि आपु मुरादी॥ 4॥
दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहि चाँप चपेरे॥ 5॥
कहहिं कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरे॥ 6॥

शब्दार्थ—घर=शरीर, हृदय। पाँच ढोटा=पांच लड़के, पांच ज्ञानेंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी। नारी=वासना, दुर्बुद्धि। हटा=रोकना। मुरादी=इच्छुक। दोहागिन=दुर्भाग्य, बदकिस्मती। चाप=धनुष, दमन। निबेरे=सुलझाये।

भावार्थ—हे संतो ! हर आदमी के अपने शरीर में ही भारी झगड़ा मचा रहता है॥ 1॥ पांच लड़के पांच ज्ञानेंद्रियां हैं और एक नारी दुर्बुद्धि एवं दुर्वासना है। ये उठ-उठकर जीव से रात-दिन लड़ते हैं॥ 2॥ ये अलग-अलग विषयों के आहार चाहते हैं, क्योंकि पांचों बड़े स्वादासक्त हैं॥ 3॥ ये पांचों किसी का वर्जना नहीं मानते। ये सब अपनी-अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में लगे रहते हैं॥ 4॥ अतएव साधक को चाहिए कि वह दुर्बुद्धि को सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझकर उसे नष्ट कर दे, और इन्द्रिय-ढोटों को ज्ञान की चपत लगाकर उन्हें चुप बैठा दे, अर्थात उनका दमन कर दे॥ 5॥ सद्गुरु कहते हैं कि वही मेरा अनुगामी या मित्र है जो अपने घर के झगड़े को सुलझा ले, अपने हृदय की उलझनों को समाप्त कर दे॥ 6॥

व्याख्या—कबीर साहेब की संत-मण्डली बैठी है। मानो किसी ने आकर कबीर साहेब से कहा हो कि अमुक-अमुक लोगों में झगड़ा हुआ है। कबीर साहेब ने मानो संतों से कहा हो—हे संतो, भारी झगड़ा तो सबके अपने-अपने शरीर रूपी घर में है। जो मन का झगड़ा है, यह भारी है। सद्गुरु ने हृदय में चलने वाले अविराम झगड़े को भारी विशेषण से संबोधित किया है। मनुष्य हर समय अपने हृदय में उलझा रहता है। संसार के छोटे तथा बड़े झगड़े एवं छोटे से बड़े युद्ध, यहां तक विश्वयुद्ध भी मनुष्य के मन के झगड़े से उत्पन्न होते हैं। संसार के बड़े-बड़े युद्ध भी केवल दो-चार मनुष्यों के मन की मलिनता के फल होते हैं। यदि घर का झगड़ा ठीक हो जाये, तो बाहर का झगड़ा अपने आप ठीक हो जाये। घर का झगड़ा है अपने शरीर में होता हुआ झगड़ा।

"राति दिवस मिलि उठि उठि लागें, पाँच ढोटा एक नारी।" पांच इन्द्रियां रूप लड़के तथा दुर्बुद्धि रूपी नारी—ये छहों रात-दिन उठ-उठकर जीव से झगड़ते हैं। सारे झगड़ों के मूल में दुर्बुद्धि एवं दुर्वासनाएं हैं। मन की गंदगी से ही तो चरित्र गंदा होता है। इन्द्रियों की लंपटता का कारण मन की लंपटता है और मन इसलिए लंपट है, क्योंकि बुद्धि ठीक नहीं है।

"न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी।" आंखें मनोहर रूप देखना चाहती हैं, नाक सुगन्ध सूंघना चाहती है, कान मनभावन शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ षट्रसों का स्वाद लेना चाहती है तथा चमड़ी कोमल स्पर्श चाहती है। ये सारी इन्द्रियां अपने-अपने स्वाद में लीन हैं। पांचों अपने विषयों

में बहुत लंपट हैं। ये इन्द्रियां सहजतया नहीं रुकतीं। सभी इन्द्रियां अपने-अपने भोगों की ओर जीव को खींचती हैं। ज्ञान की बातें जान लेने पर भी ये मन तथा इन्द्रियां नहीं रुकते। इसके लिए गहरी विवेक-शक्ति, विषयों की तरफ से ग्लानि, विषयों में दोष-दर्शन, कुसंग का त्याग तथा भोगों का भी त्याग होना चाहिए। त्याग करने से त्याग की शक्ति बढ़ती है। जो कभी एक दिन भी अनशन नहीं रहता, उसे अनशन रहना बड़ा कठिन काम लगता है, परन्तु जो बराबर अनशन रहा करता है, उसे अनशन रहना कोई बड़ी बात नहीं लगती।

आप बीसों भाषाओं के विद्वान हो जायें; दर्शनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र एवं असंख्य शास्त्रों को, सब वेदों, सब नीतियों को जान लें; आप जगतप्रसिद्ध महात्मा, महन्त, आचार्य, प्रवचनकर्ता एवं विज्ञानी हो जायें और चाहे चन्द्रमा पर या मंगलग्रह पर भी पहुंच जायें, परन्तु यदि आपकी इन्द्रियां, आपका मन आपके अधीन नहीं हैं, तो आपका सब मिट्टी है। महाकवि जौक कहते हैं—

न मारा आप को जो खाक हो अक्सीर हो जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा॥
बड़े मोजी को मारा नफ्से अम्मारे को गर मारा।
नहंगो अजदहा और शेरनर मारा तो क्या मारा॥

अर्थात—आदमी बुराइयों को मारकर उसका भस्म नहीं बनाया जो अपने लिए अक्सीर (अचूक) दवा हो जाती। यदि पारे का भस्म बनाकर शारीरिक रोग के लिए अक्सीर दवा बनायी तो क्या? यदि तू नफ्से अम्मारे (बुरी इच्छाओं) को मार लिया तो जानो बड़े भारी मोजी (घातक) को मार डाला। परन्तु यदि तू नहंगो (घड़ियाल), अजदहा (सांप) और शेरनर (सिंह) को मारा तो क्या मारा?

"दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहि चाँप चपेरे।" सद्गुरु कहते हैं कि इस घर के झगड़े को, इस तुम्हारे शरीर में होते हुए फसाद को बन्द करो। जब तक यह बन्द नहीं होगा, तब तक तुम्हें शांति नहीं मिलेगी। बाहरी सारे झगड़े और फसाद का मूल यह तुम्हारे घर का झगड़ा है। इसके लिए सद्गुरु बताते हैं कि तुम्हारे मत्थे दुर्बुद्धि का दुर्भाग्य है। तुम्हारी सबसे बड़ी बदकिस्मती है बेअक्ली, इसको मिटा दो। तुम नहीं समझ पाते हो कि विषयों के भोगों से काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि बढ़ाकर तुम अत्यधिक अशांत होते हो। तुम जितने विषय-लंपट बनते हो, उतनी तुम्हारी आत्मा मलिनता से ढककर पतनोन्मुख होती है। विषय-भोग तुम्हें व्यामोहित बनाकर छोड़ देते हैं। परन्तु दुर्बुद्धि के कारण तुम इस बात को नहीं समझ पाते हो। यही तुम्हारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य

है। इसे मूलतः छोड़ो और पांच ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में करो। खाओ, परन्तु शुद्ध, सात्त्विक, और उसे भी अनासक्त होकर केवल शरीर-यात्रा के लिए। पहनो, मध्यवर्तीय वस्त्र, परन्तु उससे अनासक्त होकर। देखो, केवल शरीर-निर्वाह एवं आवश्यकतावश उसमें भी कहीं मोह न हो। ममता, काम-वासना और आसक्ति छोड़कर शरीर की सारी क्रियाएं करो। जब तुम्हारे मन तथा इन्द्रियां तुम्हारे वश में हो जायेंगे, तब तुम्हारा जीवन ही बदल जायेगा।

स्ववश मन-इन्द्रिय वाले व्यक्ति के जीवन में द्वन्द्व नहीं रहता। उसके अन्दर का झगड़ा मिट जाने से उसके जीवन से बाहर भी झगड़े नहीं होते। सद्गुरु कहते हैं कि वही मेरा अनुगामी है, भक्त है तथा मित्र है जो अपने घर के झगड़े को सुलझा ले। जिसके मन तथा जीवन में झगड़े नहीं हैं, वही सच्चा कबीर-अनुयायी है। वही सच्चा गुरु-पथ गामी है। वही सच्चा इंसान है।

धार्मिक भ्रांतियों पर विचार

शब्द-4

सन्तो देखत जग बौराना॥ 1॥
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना॥ 2॥
नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करे अस्नाना॥ 3॥
आतम मारि पषाणहि पूजे, उनमें किछउ न ज्ञाना॥ 4॥
बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़ें कितेब कुराना॥ 5॥
कै मुरीद तदबीर बतावैं, उनमें उहै जो ज्ञाना॥ 6॥
आसन मारि डिम्भ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना॥ 7॥
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्भ भुलाना॥ 8॥
टोपी पहिरे माला पहिरे, छाप तिलक अनुमाना॥ 9॥
साखी शब्दै गावत भूले, आतम खबरि न जाना॥10॥
हिन्दू कहैं मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना॥11॥
आपुस में दोउ लरि लरि मूये, मर्म न काहु जाना॥12॥
घर घर मन्तर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना॥13॥
गुरू सहित शिष्य सब बूड़े, अन्त काल पछिताना॥14॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ई सब भरम भुलाना॥15॥
केतिक कहौं कहा नहिं माने, सहजे सहज समाना॥16॥

शब्दार्थ—पतियाना=विश्वास करना। पीर=मुसलमानों के गुरु। औलिया=तपस्वी। मुरीद=शिष्य। तदबीर=युक्ति। उहै=भ्रमपूर्ण। डिम्भ=दंभ, दिखावा। गुमाना=घमंड। रहिमाना=दयालु, ईश्वर। सहजे सहज=बड़ी सरलता से।

भावार्थ—हे संतो ! विचारकर देखें तो लगता है कि संसार के लोग धर्म के नाम पर पागल हो गये हैं॥ 1॥ यदि मैं सत्य कहता हूं तो लोग मारने दौड़ते हैं और धर्म के ठेकेदारों की कही हुई झूठी बातों में विश्वास करते हैं॥ 2॥ मैंने बहुत-से नियम-धर्म के आचार करने वालों को देखा है। वे प्रातःकाल ही स्नान करते हैं॥ 3॥ परन्तु दुख है कि वे चलते-फिरते जीवधारियों की हत्या कर निर्जीव पत्थर के देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। इसलिए साफ समझने में आता है कि उनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ 4॥ मैंने मुसलमानों के बहुत-से पीर-औलियों को भी देखा है। वे कुरान शरीफ पढ़ते हैं तथा उसके सम्बन्धित अन्य किताबें भी पढ़ते हैं॥ 5॥ वे लोगों को अपने शिष्य बनाकर ईश्वर या स्वर्ग पाने के लिए उन्हें वही युक्ति एवं साधन बताते हैं जिनमें मूक प्राणियों की निर्दयतापूर्वक हत्या होती है। इसलिए इनमें भी ज्ञान के नाम पर वही भ्रम है॥ 6॥ कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग आसन लगाकर सिद्ध या ईश्वर-मग्न होने का दिखावा करके बैठते हैं। उनके मन में धार्मिक होने का बहुत बड़ा घमंड रहता है॥ 7॥ परन्तु वे धातु-पाषाण की मूर्ति पूजने लगते हैं और तीर्थों के सेवन से मोक्ष या स्वर्ग मिलेगा, इस घमंड में भूले रहते हैं॥ 8॥ कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, माला पहनते हैं, शरीर के अनेक अंगों में छाप लगाते हैं, मस्तक पर अनेक प्रकार के तिलक करते हैं और बहुत-से अनुमान-कल्पना में पड़े रहते हैं॥ 9॥ वे साखी तथा शब्दों को गाने में ही भूले रहते हैं। उन्हें अपनी आत्मा, अपने स्वरूप एवं स्वत्व का कुछ भी पता नहीं रहता॥ 10॥ हिन्दू कहते हैं कि हमें राम प्रिय हैं और मुसलमान कहते हैं कि हमें रहिमान प्रिय हैं॥ 11॥ इसको लेकर वे आपस में लड़-लड़कर मरते हैं; परन्तु उनमें से कोई यह रहस्य जानने की चेष्टा नहीं करता कि राम-रहीम का अभिप्राय एक ही है॥ 12॥ यथार्थ ज्ञान तथा गुरुत्व के आचरण से रहित रहकर केवल मिथ्या गुरुत्व के अहंकार में डूबे हुए कितने ही धार्मिक कहलाने वाले घर-घर में मंत्र-दीक्षा देते घूमते हैं॥ 13॥ ऐसे गुरु लोग अपने सारे शिष्यों को लेकर घोर अंधकार में डूबे रहते हैं, और वे लोग जीवन के आखिर में तब पश्चाताप करते हैं जब उन्हें लगता है कि जीवन में सच्चे धर्म का आचरण नहीं हुआ, केवल धर्म का ढोंग रहा॥ 14॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये सब भ्रांति में पड़कर भूले हैं॥ 15॥ मैं कितना ही कहता हूं, परन्तु ये कहा नहीं मानते, अपने भोलेपन में पड़कर भेड़िया-धसान न्याय भ्रांति में डूबे जा रहे हैं॥ 16॥

व्याख्या—एक पागलखाने में यदि होशहवास वाला आदमी पहुंच जाये तो उसे जो अनुभव होगा, वही अनुभव कबीर-जैसे निर्लेप तथा प्रबुद्ध संत पुरुष को इस संसार में आकर होगा। कबीर ऐसी मानसिकता के महापुरुष थे जिनमें

कहीं चिपकाहट नहीं थी। सर्वत्र अनासक्त आदमी ही सत्य कह सकता है। कबीर साहेब ने धर्म के नाम पर बाह्याचार तथा पाखंड को बड़े निकट से देखा था और उन्हें उससे बड़ा क्षोभ हुआ था। इसलिए उन्होंने उसके विषय में दो टूक बातें कही हैं।

वे कहते हैं—हे सन्तो ! देखता हूं तो लगता है कि संसार के लोग पागल हो गये हैं। धर्म के नाम पर जो पागलपन होता है उसका उतरना बड़ा कठिन होता है। यदि सोचा जाये कि सत्य बात बताकर लोगों को प्रेरित किया जाये, जिससे वे अपना पागलपन छोड़ें, तो यह भी सरल कार्य नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।" यदि सत्य कहा जाये तो जगत के लोग मारने दौड़ते हैं, और झूठ कहो तो उस पर विश्वास करते हैं। सदाचार तथा नैतिकता से हटकर जितना कुछ संप्रदायों में बताया जाता है, उसमें अधिक झूठ तथा अंधविश्वास होता है। ईश्वर का भेजा कोई मनुष्य पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र तथा अवतार है, ईश्वर की भेजी हुई किताब है, ईश्वर का भेजा कोई मजहब या संप्रदाय है, मनुष्य के अलावा कोई देवी-देवता हैं, नदियों-तीर्थों आदि में नहाने से पाप कटते हैं, मनुष्य के अपने आपके विवेक, श्रम एवं साधन के अलावा कोई उसका उद्धारक है, ये सारी बातें झूठी हैं। सद्गुरु भी केवल प्रेरक हैं, उद्धारक नहीं। परन्तु ये सारी बातें कही जायें तो बहुत-से लोग परेशान हो जायेंगे। धार्मिक कहलाने वालों का मन चमत्कारों का पक्षधर हो गया है। परन्तु सारे चमत्कार झूठे हैं। कोई ईश्वर या देवी-देवता अपने भक्तों के पाप कर्मों को माफ कर देता है, यह धारणा झूठी तो है ही, पाप बढ़ाने वाली भी है। ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें समझना बहुत जरूरी है, परन्तु लोग जड़ीभूत हैं। समझना नहीं चाहते।

"नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करे अस्नाना। आतम मारि पषाणहि पूजे, उनमें किछउ न ज्ञाना।" विचारिए जरा, नियम, धर्म, प्रातःस्नान का क्या अर्थ हुआ, जब जीव को मारकर निर्जीव की पूजा की गयी। सब जानते हैं कि माने गये सारे देवी-देवता, निर्जीव पत्थर हैं या मनःकल्पित हैं, फिर भी उनकी पूजा में जीव मारे जा रहे हैं। जीव मारकर निर्जीव की पूजा, इससे अधिक पागलपन और क्या हो सकता है ! जंगली मूढ़ों से लेकर शहरी विद्वानों एवं पंडितों तक में यह भ्रम छाया है कि देव-पूजा में जीव-वध पाप तो है ही नहीं, अपितु पुण्य है। सद्गुरु कहते हैं कि इनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

यही बात पीर-औलिया की है, किताब-कुरान पढ़ने वालों की है। निहायत रहम करने वाले अल्लाह को खुश करने के लिए निहायत बेरहमी का काम, कुर्बानी के नाम पर मूक पशुओं की हत्या। हज के समय मक्का में लाखों

जानवर अल्लाह को खुश करने के लिए उनके बन्दों द्वारा मार दिये जाते हैं। भारत में ही बकरीद जैसे धर्म के त्योहार में लाखों बकरे आदि जानवरों के गले पर खुदा के बन्दों द्वारा छूरी रेत दी जाती है। उनके पीर-औलिया खुदा से मिलने के लिए यही रास्ता बताते हैं।

अल्लाह और जन्नत (स्वर्ग) की कल्पना भी काबिलेगौर है। अल्लाह ने साफ-पाक रूहों (जीवों) को दुनिया में भेज दिया किसी को कोढ़ी तथा किसी को सर्वांग-सम्पन्न बनाकर। किसी को दाने-दाने के लिए मुहताज तथा किसी को अरबपति बनाकर। किसी को अटट गंवार तथा किसी को कुशाग्रबुद्धि बनाकर। किसी ने ठीक ही कहा है—"उसने न्याय न कर ठकुराई की है और बिना कोई कर्म किये जीवों की तकदीर बना दी और उसमें बुराई लिख दी।"[1]

स्वर्ग-नरक भी कितने बेढंगे हैं। मनुष्यों ने एक बार जीवन में कुछ अच्छा या बुरा किया, और ईश्वर ने उन्हें उनके फल में स्वर्ग या नरक में डाल दिया और वे सदा के लिए उन्हीं में बन्द हो गये। स्वर्ग वाले सदा स्वर्ग भोगें, चलो ठीक है, नरक वाले कभी उससे छूटने का रास्ता ही न पावें। ऐसा है अल्लाह का कानून। और वह स्वर्ग भी बीवी-बच्चों वाला, शराब-कबाब वाला। शरीर जड़ कणों का जोड़ होता है। जुड़ी हुई चीज टूटती है। बना हुआ शरीर बदलेगा, बूढ़ा होगा, विनष्ट होगा। वह अजर-अमर कैसे होगा! परन्तु जन्नत वाले इतना भी नहीं सोच पाते। जन्नत में भोग वही, जो यहां सूअर, वानर, कुत्ते, मानव, कीट-पतंग आदि भोगते हैं। यह है मलिन इन्द्रियों की घृणित विलासिता। मनुष्यों ने अपनी अपूर्ण कामनाओं की सृष्टि जन्नत के रूप में की। वह यहां छककर भोगों को नहीं भोग पाता। अभाव, रोग, बुढ़ापा बहुत-बहुत बाधाएं भोगों में हैं। तो मनुष्यों ने कल्पना कर ली कि चलो, यहां नहीं छककर भोगों को भोग पाते हैं तो जन्नत में भोगेंगे, जो सोलहों आने झूठी बात है। परन्तु पुरोहितों ने उस पर ईश्वर की मुहर लगा दी और कहा अब तो सच मानोगे! यह सब ईश्वर का कहा है। आज भी धार्मिक लोग बड़े जोर-शोर से कहते हैं कि मेरा मजहब खुदा का, मेरी किताब खुदा की तथा मेरा आचार्य खुदा का है। खुदा रूहों (जीवों) को दुनिया-दरिया में डालकर उनकी परीक्षा कर रहा है। किसी ने कितना बढ़िया कहा है—"हे ईश्वर! तूने मुझे गहरे दरिया में डालकर एक तख्ते से बांध दिया है। अब कहते हो कि सावधान रह, कपड़ा भीग न जाये।"[2]

---

1. न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई।
   बिन कीन्हें लिख दीन बुराई॥
2. दरमियाने क़अर दरिया तख्ताबंद करदई।
   बाज़ में गोई कि दामन तर मकुन हुशियार बाश॥

भक्तों का हृदय भी तो आखिर पत्थर नहीं है। उसमें भी तर्क उत्पन्न होता ही है। वह सोचता है कि ईश्वर ने ऐसा अन्याय मेरे साथ क्यों किया। वस्तुतः यह सब दिल बहलाने की बातें हैं। इस जीव को न किसी ने गड्ढे में डाल रखा है और न कोई इसे उबार सकता है। यह अपने अच्छे तथा बुरे कर्मों से ऊंची-नीची गति पाता है। परन्तु मजहबी ख्यालों का बयान अपना-अपना है।

"आसन मारि डिम्भ धरि बैठे..." कितने लोग दम्भपूर्वक आसन, मुद्रा, योग, ध्यान आदि का प्रदर्शन करते हैं। उन्हें झूठी सिद्धि का घमंड होता है। कितने लोग पीतल-पत्थर पूजकर कहते हैं कि हम देवता पूजते हैं। अपने हाथों से देवी-देवता बनाते हैं, स्वयं उनमें प्राण फूंकने का दिखावा करते हैं और स्वयं उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े होते हैं और उनसे ऋद्धि-सिद्धि की भीख मांगते हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियां चुरा ली जाती हैं। बेचारे देवी-देवता अपनी रक्षा नहीं कर पाते, फिर अपने भक्तों की रक्षा कैसे करेंगे, इतनी-सी बातें नहीं समझ में आतीं।

कितने लोगों को तीर्थों का बड़ा घमंड होता है। वे कहते हैं कि हमने चार बार चारों धाम, चौरासी तीर्थ घूम डाले हैं, तुम क्या समझते हो। 'जो जाय बद्री सो न आवै वोद्री'—जो बद्री-धाम कर आता है, वह मुक्त हो जाता है। नर्मदा का नाम लेने से एक जन्म का पाप कटता है, उसके दर्शन से तीन जन्मों का तथा उसमें स्नान करने से सहस्रों जन्मों का पाप भस्म हो जाता है। सैकड़ों योजन दूर से ही गंगा का नाम लेने से तीन जन्मों के पाप काफूर हो जाते हैं।[1] और साहेब इतना ही क्या, प्रयाग की त्रिवेणी में डूबकर मरने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।[2] यदि प्रयाग में मुंडन करा लिया तो गया में पिंडदान, कुरुक्षेत्र में दान तथा काशी में मरने की आवश्यकता नहीं।[3] लोक-वचन तथा वेद-वचन की परवाह छोड़कर प्रयाग में मरने का विचार करना चाहिए।[4] तीर्थयात्रा में प्रयाग का स्मरण करते हुए भी मरने पर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[5] चारि खानि के जितने जगत-जीव हैं, अयोध्या में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।[6] और वे काशी में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।[7] जो रामेश्वर का दर्शन करेगा, वह

---

1. विष्णुपुराण 2/8/121।
2. त्रिस्थली, पृष्ठ 3।
3. नारदीय पुराण, उत्तर 63/104।
4. महाभारत, वनपर्व 85/83।
5. मस्त्य पुराण 105/8-12। धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 3, पृ. 1336। देखिए कबीर दर्शन, अध्याय 1, संदर्भ 29, तीर्थ।
6. चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥
7. आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥

भगवान के धाम में निवास करेगा।[1] जो रामेश्वर में गंगा-जल चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पद प्राप्त करेगा।[2]

"संतो देखत जग बौराना" जगत का पागलपन कितना गिनाया जाये। पंडित-पुरोहितों की ऐसी-ऐसी शूरवीरता की बातें सुनकर लोग "तीरथ गर्भ भुलाना" चरितार्थ करते हैं। मुक्ति, जो आत्मज्ञान तथा वासनातीत की दशा है, जो आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम, अकाम की अवस्था है, उसे पुरोहित लोग पान-तंबाकू के भाव बेच रहे हैं। इतने सस्ते नुस्खे-इतने सस्ते नुस्खे, हद्द हो गयी !

"टोपी पहिरे माला पहिरे..." ऐसे भी लोग हैं जो एक विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, खूब माला पहनते हैं, 'माला पहरी चार', देह भर में छाप लगाते हैं, नाना प्रकार के तिलक करते हैं, साखी-शब्द भी खूब गाते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि मैं कौन हूं ! वेष और वाणी का आडंबर खूब बढ़ गया, परन्तु स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान के नाम पर कोरे-के-कोरे हैं। वे स्वर्णिम वरक में लिपटी हुई मिट्टी की मिठाई की तरह हैं। घमंड है उनको साधु, योगी, महंत होने का और घमंड है उनको गुरु-वाणी तथा संत-वाणी कंठ होने का, परन्तु तथ्य-बोध से रहित निरंतर हीरे का वर्णन करते हुए कंकर बटोरते हैं। यह पागलपन नहीं तो क्या है !

"हिन्दू कहैं मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना।" ज्यादातर झगड़े हरफ के फेर में हैं। कोई कहता है हम राम मानते हैं और कोई कहता है कि हम रहमान मानते हैं। क्या हुआ शब्दों के अन्तर से। दोनों तो एक ही बात कहते हैं। पानी पीयो या वाटर, आब पीयो या जल, क्या फर्क पड़ता है। राम हो या रहीम, इससे जो कुछ ध्वनित होता है वह जड़ से भिन्न चेतन सत्ता है। चेतन केवल चेतन है। नामांतर से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। फर्क तर्जे-इबादत से हम लड़ते हैं। नाम और पूजा के तरीके अलग हैं, इसलिए हम सत्य को भिन्न मान लेते हैं। यह भी पागलपन है।

स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं, पवित्र आचरण नहीं, यहां तक कि मनुष्यता का बोध नहीं, परन्तु महिमा के घमंड में घर-घर मंत्र-दीक्षा देते हुए घूमते हैं। 'अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आश।' ऐसे गुरुओं की दशा क्या होगी ! स्वयं डूबेंगे और शिष्यों को डुबोयेंगे। ऊपर भ्रमबुद्धि में पड़कर स्वयं को भूले हुए लोगों का कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। बारम्बार जगाने पर

---

1. जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। सो तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥
2. जो गंगाजल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहिं॥ (मानस)

भी मनुष्य भ्रांतियों की ओर ही जाता है। उलटी बुद्धि एवं उलटे आचरण ही मनुष्य के सहज स्वभाव हो गये हैं।

मनुष्य को चाहिए कि वह विवेकवान सन्तों-भक्तों का सत्संग करे। स्वयं अपनी प्रज्ञा को जागृत करे। कारण-कार्य व्यवस्था, विश्व के शाश्वत नियमों एवं विवेकज्ञान पर ध्यान दे।

माया के भटकाव से बचो

शब्द-5

सन्तो अचरज एक भौ भारी, कहौं तो को पतियाई॥ 1॥
एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा॥ 2॥
एकै अण्ड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा॥ 3॥
एकै नारी जाल पसारा, जग में भया अन्देशा॥ 4॥
खोजत खोजत काहु अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा॥ 5॥
नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसेनि सब जग झारी॥ 6॥
ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पाई॥ 7॥
आपै मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई॥ 8॥
कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लियो जगाई॥ 9॥

शब्दार्थ—पतियाई=विश्वास। अण्ड=ब्रह्माण्ड, संसार, वीर्य। नारी=माया, मन की अविद्या, वासना, कल्पना। अन्देशा=चिन्ता, आशंका, दुविधा, खतरा। अन्त=भेद। नाग फाँस=नागपाश, त्रिगुणीपाश, वरुण का अस्त्र, सांपों का फन्दा। मूसेनि=मूसना, चुराना। खड्ग=तलवार। जूझे=लड़ते हैं।

भावार्थ—हे सन्तो ! एक बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि मैं उसे कहता हूं तो कौन विश्वास करता है॥ 1॥ इस बात पर विचार करो कि जीव रूप एक पुरुष कोटि है तथा प्रकृति रूप एक नारी है॥ 2॥ इन्हीं के गुण-धर्मों से तमाम चौरासी लाख योनियां एक ही संसार में विद्यमान हैं। परन्तु संसार के लोग इस प्रत्यक्ष जड़-चेतन का विवेक करना छोड़ भ्रम तथा भूल में पड़कर उलझ गये हैं॥ 3॥ मनुष्य के मन की एक कल्पना रूपी नारी ने जाल फैला रखा है, जिससे संसार के लोगों के मन में एक दुविधा या आशंका पैदा हो गयी है कि आत्मा से अलग कोई परमात्मा है॥ 4॥ फिर उस परमात्मा को खोजते-खोजते लोगों ने उसका भेद नहीं पाया। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव भी उसका रहस्य जानने में असफल रहे॥ 5॥ कल्पना-माया रूपी नारी ने त्रिगुण का नागपाश लेकर संसार के सारे लोगों के हृदय में आत्मज्ञान-धन की चोरी की और सबके मन को बांध लिया॥ 6॥ संसार के सारे लोग स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान रूपी

तलवार को लिए बिना उस माया-अविद्या से लड़ रहे हैं। इसलिए कोई उसे पकड़कर कैद नहीं कर पाता, एवं उसे मार नहीं पाता॥ 7॥ यह जीव स्वयं इस माया रूपी फूल-फुलवारी का मूल है। यही अज्ञान-वश इसका विस्तार करता है और इसके फल को स्वयं चुन-चुनकर खाता है। अर्थात विमोहित माया में डूबता है॥ 8॥ सद्गुरु कहते हैं कि इस माया से वही जीव बच निकलेगा जिसको गुरु ने मोह-नींद से जगा लिया है॥ 9॥

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि लोग देखते हैं कि प्रकृति-पुरुष एवं जड़-चेतन के गुण-धर्मों से इस विश्व-ब्रह्मांड में सृष्टि हो रही है। फिर भी वे तत्त्व-बोध को छोड़कर अलग परमात्मा खोजते हैं। 'पुरि शेते पुरुषः' शरीर रूपी पुर में शयन करने वाले ये चेतन जीव ही पुरुष हैं। दूसरा तत्त्व माया रूपी नारी है। उसका एक रूप है जड़-प्रकृति तथा दूसरा रूप है मन की अविद्या, मन की कल्पना। जड़-चेतन के अपने गुण-धर्मों से विश्वसृष्टि चलती है। इन्हें छोड़कर किसी चमत्कारी जादूगर को खोजने की आवश्यकता नहीं है। विश्व को समझने के लिए विश्व के मूल तत्त्वों—जड़ तथा चेतन को और उनके गुण-धर्मों को ही समझना चाहिए। जड़-चेतनात्मक विश्व से अलग विश्व का समाधान नहीं मिल सकता। आश्चर्य यही है कि प्रत्यक्ष जड़-चेतन का विवेक छोड़कर मनुष्य अनुमान-कल्पना के लोक में भटकते हैं।

स्वरूप का ज्ञान न होने से मनुष्य के मन की एक अविद्या रूपी नारी कल्पना का जाल फैलाती है। सीधी बात यह है कि जीव अपने आप के महत्त्व को न समझकर अपने लक्ष्य को अलग खोजता है। जहां तक अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजने की बात है, वह सब केवल मन का विस्तार है, मन की कल्पना है। अपने मन की कल्पना के विस्तार में पड़कर ही जीव संदेहों से ग्रसित हो जाता है। मनुष्य के मन का अंदेशा एवं दुविधा उसे भटकाते हैं। "मुख तो तबहीं देखिहो, जब दिल की दुबिधा जाय।"[1] अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजने के चक्कर ने ही तो सबको भटका रखा है। कबीर साहेब का करारा व्यंग्य है "खोजत खोजत काहु अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा।" ब्रह्मादि गण भी उसकी खोजकर उसका कुछ लता-पता न पाये, तो दूसरों की तो बात ही क्या है।

"नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसेनि सब जग झारी।" माया ने नागपाश से सबके मन को बांध लिया है, और सबके भीतर से उनके आत्मज्ञान धन को चुरा लिया है। यह अज्ञान, अविद्या, अपने मन की भूल, यही तो माया है। यही

---

1. बीजक, साखी 29।

तो सबको बांधती है। अपनी ही भूल अपने को भटकाती है। पुराणों के अनुसार नागपाश वरुण का एक अस्त्र माना जाता है। यहां व्यामोहित करने वाली तीनों गुणों की मनोवृत्तियां या काम, क्रोध, लोभ ही नागपाश हैं। माया इसी से जीव को बांधती है। अर्थात जीव इन्हीं अपने बनाये जालों में मोहवश स्वयं फंसता है।

"ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पाई।" माया से तो सभी साधक लड़ते हैं, परन्तु ज्ञान की तलवार न होने से वे उससे हार जाते हैं। माया कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं, जो जीव से लड़ सके। वस्तुतः वह केवल अन्धकारधर्मा है जो ज्ञान के सूर्योदय होते ही लापता हो जाती है। अज्ञान ही तो माया है। अज्ञान से ही तो मन कल्पनाओं का जाल बुनता है और उसी में जीव उलझता है। ज्ञान होने पर यह सब अपने आप निवृत्त हो जाता है।

"आपै मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।" भव-बन्धनों का विस्तार ही फूल-फुलवारी है। उसका मूल स्वयं जीव ही है। यही तो अपने आप को भूलकर माया का विस्तार करता है और स्वयं उसी में उलझकर दुख पाता है। मनुष्य द्वारा बिछाया हुआ जाल ही तो उसे फंसाता है। मकड़ी स्वयं जाल बुनकर जैसे स्वयं ही उसमें फंस जाये, वैसे ही तो जीव अपने बनाये बन्धनों में बंधता है। जीव को कोई दूसरा बांधता नहीं है। वह स्वयं अपनी भूल से अपने लिए जाल बनाकर उसी में उलझ जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि वही उस जाल से उबरता है जिसको गुरु जगा लेते हैं। यह बड़ा मार्मिक वचन है "कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लियो जगाई।" वैसे गुरु तो सब को जगाना चाहते हैं, परन्तु जो अपनी आंखें खोलेगा ही नहीं, उसको गुरु जबर्दस्ती कैसे जगाएंगे! यदि मनुष्य गुरु के वचनों पर ध्यान दे तो गुरु उसे अवश्य मोह-नींद से जगा देंगे। जो जग जाता है, वह बाहर भटकना छोड़कर आत्माराम बन जाता है।

शब्द-6

सन्तो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी॥ 1॥
पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुँवारी॥ 2॥
खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी॥ 3॥
भाई के संग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा॥ 4॥
ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा॥ 5॥
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी॥ 7॥

शब्दार्थ—पुत्र=जीव। महतारी=माया। पिता=जीव। कन्या=माया। खसम=जीव। ससुर=श्वसुर, अहंकार। भाई=अज्ञान। सासुर=मायावी जगत, सांसारिकता। सासु=संशय। सावत=सौत। ननद भौज=राग-द्वेष। परपंच=प्रपंच, विस्तार, जगत, भवचक्र। समधी=सम+धी, सम=एक, निश्चल, निष्पक्ष; धी=बुद्धि, प्रज्ञा—निश्चल एवं निष्पक्ष बुद्धि एवं प्रज्ञा।

रूपक—हे सन्तो ! एक और बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, वह यह कि माता ने अपने पुत्र को पकड़ लिया॥ 1॥ एक कुंआरी कन्या थी, वह अपने पिता के साथ पगली बन गयी॥ 2॥ एक ऐसी बावरी नारी थी कि अपने पति को छोड़कर श्वसुर के साथ भाग गयी। इस पर क्यों नहीं विचार करते॥ 3॥ एक स्त्री ऐसी थी जो अपने भाई के साथ ससुराल चली गयी, तो वहां पर सासु उसकी सौत बनकर उसे पीड़ा देने लगी॥ 4॥ ननद और भौज ने अपने-अपने नाम की बड़ाई के चक्कर में पड़कर आपस में खूब झगड़ा किया॥ 5॥ एक ऐसी स्त्री थी जो अपने समधी के साथ नहीं आयी, किन्तु सहज गंवारू रूप में घरबारी बन गयी॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसी नारी का जन्म देने वाला केवल पुरुष है॥ 7॥

भावार्थ एवं व्याख्या—यहां कुलटा नारी के रूपक में माया का चित्रण है। माया है मन में रहे हुए संसार का मोह, अविद्या, कल्पना, मलिन मनोवृत्ति। माया के माध्यम से ही जीव जन्म लेता है। इसलिए माया माता है और जीव पुत्र है। परन्तु यह माया जीव को पकड़ लेती है "पुत्र धइल महतारी" का यही अभिप्राय है। अथवा जीव माया को पकड़ लेता है। दोनों ओर से इसका अर्थ लगता है।

वस्तुतः जीव ही माया का जनक है। यह मनुष्य-जीव ही तो मोह पैदा कर माया का निर्माण करता है। वासना, मोह, कल्पना, मलिन मनोवृत्ति जो कुछ माया के लक्षण हैं, उनका जनक जीव ही है। जीव अपने स्वरूप की भूल से माया को जन्म देता है। अतः जीव माया का पिता है। माया जीव की कुंआरी कन्या है। कुंआरी इसलिए कि उसे कोई अपनी नहीं बना पाता। खेद है कि यह अपने पिता जीव के साथ पगली बन गयी "पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुँवारी।"

"खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी।" एक दृष्टि से देखा जाये तो जीव ही माया का पति है, स्वामी है। परन्तु माया एवं मनोवृत्ति जीव को छोड़कर अर्थात आत्मस्वरूप-विचार को त्यागकर अहंकार रूप श्वसुर के साथ भाग निकलती है। मनोवृत्ति स्वरूप-विचार में न रमकर अहंकार में पड़ी हुई संसार में भटकती रहती है। मनोवृत्ति अपने आत्मा-पति में न स्थित

होकर अपना लक्ष्य अलग खोजती है। इस पर क्यों नहीं विचार करते कि आत्मविचार छोड़कर चित्त का अलग रमना माया का भटकाव है।

"भाई के संग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा।" माया का भाई अज्ञान है, सासुर संसार एवं सांसारिकता है। मनोवृत्ति अज्ञान के साथ सांसारिकता में डूबी रहती है, यही माया का "भाई के संग सासुर गौनी" का तात्पर्य है। परन्तु अज्ञान के साथ डूबी मनोवृत्ति रूपी माया को सासु सौत बनकर दुख देती है। सासु संशय है। जो मनोवृत्ति अज्ञान के साथ रहेगी, वह संशय से पीड़ित रहेगी ही। संशय उसकी सौत बनकर उसको दुखाता रहेगा।

"ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा।" ननद-भौज के राग-द्वेष जगत प्रसिद्ध हैं। अतएव यहां ननद-भौज के अर्थ राग-द्वेष समझना चाहिए। ये राग-द्वेष ही प्रपंच रचते हैं। प्रपंच का अर्थ है विस्तार, संसार, भवचक्र। राग-द्वेष ही जीवन में भवचक्र रच देते हैं। जैसे मानो संसार में ननद-भौज आपस में झगड़ती हों और वे एक दूसरी से यह कहती हों कि तूने मेरा नाम लेकर क्यों बुरा कहा? "मोर नाम कहि लीन्हा?" इस प्रकार वे अहंकार-वश एक दूसरे को भला-बुरा कह रही हों। वैसे ही सारे राग-द्वेष के झगड़े मोर-तोर, अहंता-ममता के परिणाम हैं। यह सब माया का ही विस्तार है।

"समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी।" 'सम' का अर्थ है एक या निष्पक्ष, 'धी' का अर्थ है बुद्धि एवं प्रज्ञा, ऐसी बुद्धि जो एक हो, निश्चल हो, निष्पक्ष हो, वही समधी है। यह माया, यह मनुष्य की मनोवृत्ति निश्चल एवं निष्पक्ष बुद्धि के साथ संसार में नहीं आयी। यह तो "सहज भई घरबारी" गंवारू तथा साधारण विषयों में लगी रहने वाली घर-गृहस्थी वाली हुई। यह मनुष्य की मनोवृत्ति निश्चल, स्थिर, निष्पक्ष बुद्धि एवं प्रज्ञा वाली न होकर विषय-वासना वाली संसारी हुई।

"कहहिं कबीर सुनो हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी।" सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो ! इस माया एवं मलिन मनोवृत्ति रूपी नारी का जन्म चेतन पुरुष से हुआ है। जीव ही ने तो अपने भूलवश मलिन मनोवृत्ति को जन्म दिया है। इसलिए यह इसे ध्वंस भी कर सकता है।

अथवा सद्गुरु कहते हैं कि मानो पुरुष ने स्वयं नारी का जन्म ले लिया हो। यह जीव मनोवृत्ति में मिलकर स्वयं वही रूप बन जाता है। श्री निर्मल साहेब कहते हैं "जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन।" जिस क्षण में जीव की जैसी वृत्ति होती है, उस क्षण में जीव अविद्यावश अपने आप को उसी प्रकार समझने लगता है। जीव मन में काम उठने पर अपने आप को काममय,

क्रोध उठने पर क्रोधमय, मोह उठने पर मोहमय समझने लगता है। विश्व-सत्ता में चेतन पुरुष ही उच्चतम सत्ता है, परन्तु वह अविद्यावश अपने आप को मायामय बना लेता है, अज्ञानवश स्वयं भटकता है, और दूसरे को भटकाता है—"पुरुष जन्म भौ नारी"।

इस शब्द के अर्थ में माया के सम्बन्ध में जीव को पुत्र, पिता तथा पति के रूप में कहा गया है। प्रश्न हो सकता है कि यह विसंगतिपूर्ण है। वही जीव पुत्र, पिता तथा पति-स्थानीय कैसे हो सकता है? उत्तर में समझना चाहिए कि यहां अभिप्राय कोई दार्शनिक नहीं, किन्तु भावात्मक है। एक ही माया-जीव के सम्बन्ध को अनेक रूपकों में समझाया गया है। सार अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य के मन की अविद्या, मोह एवं मलिन मनोवृत्ति माया है। जीव की अपनी स्वरूप-भूल से ही इसकी सत्ता है और यही जीव को भटका रही है। अर्थात जीव अपनी भूलजनित गतिविधि में भटक रहा है।

स्व-स्वरूप-ज्ञान और सहज समाधि

शब्द-7

सन्तो कहौं तो को पतियाई, झूठ कहत साँच बनि आई॥ 1॥
लौके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई॥ 2॥
चिमिक चिमिक चिमकै दृग दहुँदिशि, अर्ब रहा छिरियाई॥ 3॥
आपै गुरू कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई॥ 4॥
सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिले रघुराई॥ 5॥
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, मन मानिक बेधो हीरा॥ 6॥
परम तत्त्व गुरू सो पावै, कहैं उपदेश कबीरा॥ 7॥

शब्दार्थ—लौके=चमकता है। रतन=रत्न, चेतन तत्त्व। अबेध=अखंड। चिमिक-चिमिक=प्रकाश, ज्ञान। दृग=आंख। दहुँदिश=दसों इंद्रियां। अर्ब=धन, संपत्ति, माल, दौलत, तात्पर्य में आत्मरत्न का ज्ञान-प्रकाश। छिरियाई=फैला हुआ। सहज समाधी=सहज समाधि, स्वरूपस्थिति। उन्मनि=उन्मनी, स्वरूपाकार-वृत्ति। रघुराई=आत्माराम। मन-मानिक=मनमाणिक्य, मन की मणिका, संकल्पों का प्रवाह। हीरा=जीव, आत्मतत्त्व।

भावार्थ—हे सन्तो ! यदि कहता हूं तो कौन विश्वास करता है ! कहने में तो बात झूठी-सी लगती है, परन्तु उस स्थिति में पहुंचकर जब अनुभव किया जाता है, तब वह सच ठहरती है॥ 1॥ चेतन-आत्मा रूपी एक ऐसा प्रकाशित रत्न है, जो अखंड है और जिसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। उसका न अन्य ग्राहक है और न स्वामी है। वह स्वयं अपने आप का स्वामी

है॥ 2॥ हृदय-स्थित उस आत्म-प्रकाश की किरणें नेत्रादि दसों इन्द्रियों द्वारा सर्वत्र फैल रही हैं॥ 3॥ सद्गुरु ने स्वयं किंचित कृपा की और सत, रज तथा तम इन तीनों गुणों से अतीत तथा नेत्रादि इंद्रियों से अगोचर स्वयं चेतन स्वरूप का बोध करा दिया॥ 4॥ जब उक्त स्वरूपबोध पाकर स्वरूपाकार वृत्ति हो जाती है, तब साधक सहज-समाधि में लीन हो जाता है। फिर मानो सहज ही आत्माराम मिल गया। दृष्टि भर लौटाना था, परमोच्च राम तो जीव स्वयं ही है॥ 5॥ फिर तो ऐसा साधक जहां-जहां देखता है, वहां-वहां उसी आत्माराम को देखता है। अर्थात वह हस्ती से कीट-पतंग तक सभी प्राणियों में अपना सजाति तत्त्व देखता है। जैसे माला का धागा सभी मणियों में पिरोया रहता है, वैसे वह साधक हीरा रूपी आत्मचिंतन के धागे में मन-मणियों को वेधकर स्वरूपस्मरण का जप करता रहता है॥ 6॥ संसार के सभी साधकों अथवा कबीर साहेब का यह उपदेश है कि परमतत्त्व का बोध गुरु के सत्संग में ही मिल सकता है॥ 7॥

व्याख्या—संत संसार से लौटकर साधना द्वारा अपने अंतरतम में डूबे होते हैं। इसलिए उनका अनुभव संसारियों से भिन्न होता है। यदि वे अपने अनुभव को सामान्य संसारियों में कहने लगें, तो लोगों के लिए वह विषय अपरिचित होने से उन्हें वह झूठा ही लगेगा। सद्गुरु कबीर मानो समाधि से उठकर और संत-मंडली में आकर कह रहे हों—हे संतो ! मैं यदि सामान्य लोगों से कहूं तो मेरी बातों पर कौन विश्वास करेगा ! स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति की बातें कहूं तो लोग मानेंगे कि यह तो व्यर्थ की बकवास है; क्योंकि उससे वे एकदम अछूते हैं। परन्तु जो साधक स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की साधना में डूबता है उसके लिए उससे अधिक सत्य कुछ है ही नहीं। आत्मज्ञान तथा आत्मस्थिति की बातें सुनने में लोगों को भले बकवास लगें, परन्तु अनुभव में उतरने पर शतप्रतिशत सच है। व्यक्ति के आत्म-अस्तित्व में ही सारे अस्तित्व का भान होता है। अतएव आत्म-अस्तित्व का बोध परम सत्यज्ञान है।

"लौके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई।" जिसे जीव, चेतन, आत्मा, रूह, सोल आदि संज्ञाओं से कहा जाता है, वह चेतन तत्त्व 'स्व' के रूप में सबके अन्दर विद्यमान अमर सत्ता है। वह चेतन-रत्न अखंड होने से अबेध है, अनादि, अनंत तथा नित्य है। उसकी कीमत कुछ नहीं हो सकती है। देह से केवल जीव निकल जाये तो देह चाहे राजा की हो और चाहे महात्मा की हो, अथवा कहना चाहिए चाहे राम, कृष्ण, महान सिकन्दर, बुद्ध, महावीर, ईसा, शंकर, दयानन्द, कबीर, नानक—किसी की भी हो, किसी काम का नहीं है। निर्जीव माता-पिता, निर्जीव गुरु, निर्जीव राजा किस काम के ! अतएव जीव एवं चेतन सत्ता अमोलिक है। इसका कोई मूल्य नहीं है। यह सबके घट में

'लौक' रहा है, चमक रहा है। चेतन की चमक से ही तो जीवन जीवन है। सद्गुरु कहते हैं कि इसका न कोई मालिक है और न खरीदार। भला, हमारे आत्मअस्तित्व का दूसरा कैसे मालिक हो सकता है और उसको दूसरा कोई खरीद भी कैसे सकता है! आत्मा स्वयं अपना स्वामी है और स्वयं अपना ग्राहक है। इन सबका अर्थ यही है कि वह स्वयं है, अपने आप है।

"चिमिक चिमिक चिमकै दृग दहुँदिशि, अर्ब रहा छिरियाई।" घट भीतर अमर चेतन प्रकाशरूप रत्न ज्ञानालोक से आलोकित है और उसका ज्ञान-प्रकाश नेत्रादि दसों इन्द्रियों के द्वारा बाहर चमचमा रहा है। यह शब्दालंकार है। इसको हटाकर इसका सरल भाव यही है कि ज्ञानस्वरूप-चेतन शरीर में रहकर हर इन्द्रिय से बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। यह जो भीतर बैठा अहम-पदार्थ मैं-मैं कहता है, यही इंद्रियों से देखता है, सुनता है, छूता है, चखता है, सूंघता है। इसी की प्रेरणा से पैर चलते हैं, हाथ काम करते हैं, और सारे अंग गतिशील हैं।

"आपै गुरू कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई।" आत्मस्वरूप निर्गुण तथा अलख है, इसे सद्गुरु ही लखाता है। क्या चेतन निर्गुण है? हमें केवल शब्दों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए, किन्तु मर्म समझना चाहिए। अपना स्वरूप निर्गुण है और सगुण भी है तथा निर्गुण-सगुण से परे भी है। सत, रज तथा तम ये तीन गुण हैं जो जड़ प्रकृति में विद्यमान हैं। प्रकृति में क्रिया मात्र रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है। ये तीनों प्रकृति में निरंतर हैं। दूसरा क्षेत्र मन का है। उसमें भी इच्छा-क्रिया रज है, प्रसन्नता सत है तथा आलस्य, निद्रादि तम है। शुद्ध चेतन में यह कुछ नहीं है। इसलिए वह निर्गुण है। उसे हम सगुण इसलिए कह सकते हैं क्योंकि उसमें ज्ञान-गुण है। उसे हम सगुण तथा निर्गुण से भी परे इस तरह कह सकते हैं कि वह सगुण तो इसलिए नहीं है क्योंकि उसमें त्रिगुण की क्रियाएं नहीं हैं, और निर्गुण इसलिए नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह शून्य तो नहीं है। जिसकी सत्ता है, वह निर्गुण हो ही नहीं सकता। सत्तावान द्रव्य में कोई-न-कोई गुण होगा ही। चेतन में ज्ञानगुण है। अतएव चेतन-अस्तित्व निर्गुण है, सगुण है तथा सगुण एवं निर्गुण से परे भी है। यह स्वस्वरूप समझने की एक उदार परिभाषा है। यह सब यहां इसलिए लिखा गया कि कोई किसी शब्द से मोह या घृणा कर अनुदार न बने। ऊपर के विवेचन में कोई भ्रांति नहीं रह गयी है। ऊपर के सारे कथन का सार यही है कि वह जड़ प्रकृति के तीनों गुणों से रहित एवं ज्ञानगुण-युक्त है। इन सबका भेद सद्गुरु ही देता है।

"सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिले रघुराई।" सहज समाधि, उन्मनी तथा रघुराई—ये तीन शब्द इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों पर हम यहां विचार कर लें। पहले हम सहज समाधि लें। जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु एवं

अवधारणा में मन को रोकते हैं तब इसे हम असहज समाधि कह सकते हैं। हम किसी महापुरुष के चित्र को अपने मन में ले लेते हैं, ज्योति या नाद को ले लेते हैं या कोई भी अवधारणा बना लेते हैं और इनमें से किसी एक में मन को रोकते हैं, तो यह असहज समाधि है। क्योंकि यह सब केवल आरोपित है। किन्तु जब ये सारे समाप्त हो जाते हैं, जब कोई अवधारणा नहीं रह जाती है, तब केवल सत्ता रहती है, चेतन-अस्तित्व मात्र है, संकल्प कुछ भी नहीं है, तब यह सहज समाधि है। मुख पर पाउडर, रंग आदि का लेपन असहज एवं बनावटी सौन्दर्य है, परन्तु मुख को धो-पोंछकर साफ कर देने पर जो उसमें सौन्दर्य निखरता है, वह सहज सौन्दर्य है। अपने स्वरूप के अलावा किसी प्रकार के भगवान, ईश्वर एवं ब्रह्म की रचना करना तथा उसमें ध्यान लगाना असहज समाधि है। हम चाहे मन में किसी का चित्र लें, या नाद-बिन्दु लें या यह कल्पना करें कि हमारे चारों ओर परमात्मा व्याप्त है, यह सब मन के ही संकल्प हैं, मन की ही अवधारणाएं होने से कृत्रिम हैं, बनावटी हैं, एतदर्थ असहज हैं। परन्तु जब मन ही समाप्त हो गया, तब उक्त कल्पनाएं भी नहीं रह गयीं। तब केवल रह गयी स्व-सत्ता। यह स्व-सत्ता मात्र का रह जाना ही सहज समाधि है। जब मन सारी अवधारणाओं के सहित शून्य हो जाता है, तब चेतन मात्र रह जाता है। यही सहज समाधि है। हमारा सहज स्वरूप चेतन एवं ज्ञान है। अतएव चेतन एवं ज्ञान मात्र रह जाना ही सहज समाधि है।

उन्मनी का सहज अर्थ है मन का निरंतर आत्माकार एवं स्वरूपाकार वृत्ति में रहना। जिसके मन में देह एवं विषयों का अभिमान नहीं रह जाता, जिसका मन विषयों का चिंतन नहीं करता, अपितु केवल आत्मस्वरूप का ही चिंतन करता है, वही मन उन्मनी दशा को प्राप्त है।

इस पंक्ति के तीसरे महत्त्वपूर्ण शब्द 'रघुराई' पर विचार कर लेना है। यह तो साफ है कि कबीर साहेब दशरथ-पुत्र रघुराई श्री रामचन्द्र को न परमात्मा मानते हैं और न उन्हें उपासना का लक्ष्य। उन्होंने बीजक में इसके विषय में जगह-जगह काफी कहा है।[1] सहज समाधि का पक्षधर अपना लक्ष्य किसी शरीरधारी को कैसे मान लेगा ! अतएव सद्गुरु कबीर का रघुराई आत्माराम है। कबीर साहेब ने रघुराई, राम, हरि आदि शब्द जहां विधेयात्मक ढंग से लिया है, उन सबका अर्थ व्यक्ति की अपनी अंतरात्मा है। उनका महावाक्य है "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[2]

जब साधक की उन्मनी जग जाती है, जब उसका मन निरंतर स्वरूपाकार हो जाता है, तब वह सहज समाधि में पहुंच जाता है। अर्थात मन के संकल्प

---

1. देखिए 75वीं रमैनी की दूसरी पंक्ति, 8वें शब्द की 13-14वीं पंक्ति, 18वां शब्द आदि।
2. रमैनी 41।

समाप्त होकर पूर्ण स्वरूपस्थिति हो जाती है। यही रघुराई का मिलना है। व्यक्ति का अपना आत्मस्वरूप ही तो परमात्मा एवं परब्रह्म है अर्थात जीव की स्व-सत्ता ही सर्वोच्च है। इसमें स्थित हुआ व्यक्ति कृतार्थ है।

सहज समाधि का पूर्णरूप संकल्पहीनता होता है, यह ऊपर बताया गया। किन्तु जो कहीं विषयों में न आसक्त होकर स्वरूप-विचार में रमता है वह मानो सब समय सहज समाधि में ही विराजमान है। "जो सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोय।" अभ्यासकाल में संकल्प-हीनता तथा व्यवहारकाल में अनासक्ति, यही है सहज समाधि।

"जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, मन मानिक बेधो हीरा।" जो व्यक्ति विषयासक्ति छोड़कर निरंतर आत्मा राम में रमता है, उसकी मनोवृत्ति राममय हो जाती है। वह जितने प्राणियों को देखता है, सब में अपने स्वरूप के ही दर्शन करता है। हस्ती से कीट तक सब जीव तो सजाति हैं। श्री पूरण साहेब के वचनों में "सब तेरे तू सबन का, काको जानि रिसाय।" माला का सूत माला में रही हुई सभी मणियों को वेधते हुए उन्हें अपने में समेटे रखता है, इसी प्रकार चेतन हीरा रूपी सूत सभी मनःसंकल्प-मणियों को वेधते हुए उन्हें अपने में समेटे रखता है। अर्थात ऐसे साधक के मन-प्रवाह की मणियां मानो स्वरूपविचार का ही निरंतर जप करती हैं। क्योंकि स्वरूपज्ञान रूपी हीरा मन-माणिक्य को वेध देता है। उसका मन सदैव स्वरूपज्ञान से ही बिंधा रहता है। अतएव स्वरूपस्थ साधक सबको अपने समान समझकर राग-द्वेष से मुक्त हो सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। सब में अपने को तथा अपने में सबको देखने की बात यदि कुछ है तो यही है। 'जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई" तथा "खुले नयन हँसि हँसि पहिचानौं" का भाव एक ही है।

"परम तत्त्व गुरू सो पावै, कहैं उपदेश कबीरा।" परमतत्त्व का अर्थ है सर्वोच्च सत्ता। सत्ता के दो प्रकार हैं। एक जड़ तथा दूसरा चेतन। जड़ दृश्य है और चेतन द्रष्टा है। इसलिए जड़ निम्न सत्ता है और चेतन परम सत्ता। यह चेतन ही परम तत्त्व है। अपना चेतन स्वरूप तो नित्य प्राप्त ही है। परन्तु उसका ज्ञान न होने से वह अप्राप्त-सा है। अपने ही घर में अपना धन गड़ा है, परन्तु ज्ञान न होने से वह नहीं-सा है। शोधक ने खोजकर बता दिया तो मानो उसने हमें धन दिया। इसी प्रकार मेरा ही आत्मस्वरूप मुझे विस्मृत था। गुरु ने उसे लखा दिया, तो मानो गुरु ने ही आत्म-धन दिया।

इस प्रकार साधारण लोगों में कहने-सुनने में जो व्यर्थ लगता है, वह आत्मस्वरूप का अस्तित्वबोध अनुभव में परम सत्य है। वह अजर, अमर एवं नित्य है। उसका बोध सद्गुरु-सन्तों के सत्संग तथा स्व-विवेक से होता है।

बोध हो जाने पर जब साधक उसमें निरंतर रम जाता है तब यही सहज समाधि है। अपना चेतन स्वरूप ही तो अपना सहज स्वरूप है और उसमें निरंतर रमना सहज समाधि है। इसी से मिलता-जुलता हुआ सद्गुरु का प्रसिद्ध पद है—

सन्तो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते, सुरति न अन्त चली॥टेक॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, भाव मिटाओं दूजा॥ 1॥
आँख न मूँदों कान न रूँधौं, काया कष्ट न धारौं।
खुले नैन हँसि हँसि पहिचानों, सुन्दर रूप निहारौं॥ 2॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटे, ऐसी तारी लागी॥ 3॥
कहत कबीर सहज यह रहनी, सो परगट करि गाई।
सुख दुख से इक परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥ 4॥

अवतार-मीमांसा

शब्द-8

सन्तो आवै जाय सो माया॥ 1॥
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया॥ 2॥
का मकसूदन मच्छ कच्छ न होई, शंखासुर न सँहारा॥ 3॥
है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कौन को मारा॥ 4॥
वै कर्ता नहिं बराह कहाये, धरणि धर्‌यो नहिं भारा॥ 5॥
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ कहै संसारा॥ 6॥
खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई॥ 7॥
हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई॥ 8॥
बावन रूप न बलि को जाँचे, जो जाँचे सो माया॥ 9॥
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया॥10॥
परशुराम क्षत्री नहिं मारे, ई छल माया कीन्हा॥11॥
सतगुरु भेद भक्ति नहिं जाने, जीवहि मिथ्या दीन्हा॥12॥
सिर्जनहार न ब्याही सीता, जल पषाण नहिं बन्धा॥13॥
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अन्धा॥14॥
गोपी ग्वाल न गोकुल आया, कर्ते कंस न मारा॥15॥
है मेहरबान सबहिन को साहेब, ना जीता ना हारा॥16॥
वै कर्ता नहिं बौद्ध कहावै, नहीं असुर संहारा॥17॥

ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया॥18॥
वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा॥19॥
ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा॥20॥
दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा॥21॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा॥22॥

शब्दार्थ—आवै जाय=जन्मे-मरे। मकसूदन=मधुसूदन—मधु दैत्य को मारने वाले कृष्ण। बीजक के अनेक संस्करणों में 'मकसूदन' की जगह पर 'मकसूद' है जो अरबी भाषा का शुद्ध 'मक़सूद' शब्द है। इसका अर्थ होता है—उद्देश्य या प्रयोजन। यही प्रासंगिक लगता है। लगता है प्राचीन काल में किसी की लिखावट में मकसूद का मकसूदन हो गया है। पतीजै=विश्वास करना। जाँचे=मांगना। बौद्ध=बुद्ध; यहां शुद्ध पाठ बुद्ध ही है। बुद्ध एक मतप्रवर्तक महात्मा हैं और बौद्ध उनके अनुयायी हैं। निकलंकी=कल्कि। कालिंगहिं=कलिंग देश के रहने वाले राजा या अन्य। जत्त=यती, त्यागी। सत्त=सत्यवती, सती एवं पतिव्रता। टारा=पतित करना। दूजा=संसारी जीव।

भावार्थ—हे संतो! जो शरीर धारण करता और छोड़ता है, जन्मता और मरता है, इस प्रकार आता और जाता है, वह माया में आसक्त संसारी जीव है॥ 1॥ सर्वज्ञ, सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान, सर्वरक्षक आदि ईश्वर के जो लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं, उसके अनुसार वह सब का प्रतिपालक ही हो सकता है। उसका स्वरूप क्रूर नहीं हो सकता। वह सर्वत्र व्याप्त होने से उसे न कहीं जाने की आवश्यकता है और न आने की॥ 2॥ मत्स्यावतार तथा कच्छपावतार के नाम से उसे मछली तथा कछुआ होने का क्या प्रयोजन हो सकता है? उसने मत्स्यावतार लेकर शंखासुर की हत्या नहीं की॥ 3॥ सर्वपालक तो दयालु होता है। उसको किसी से द्रोह नहीं हो सकता। कहो भला, वह किसको मार सकता है?॥ 4॥ उस ईश्वर ने सूअर बनकर तथा हिरण्याक्ष से पृथ्वी छीनकर अपने मुख में धारण कर लिया और उससे बहुत काल तक युद्ध कर अन्त में उसकी हत्या कर दी, यह शूकरावतार का वर्णन ईश्वर का मखौल ही है। वस्तुतः ईश्वर न वराह हुआ न पृथ्वी को मुख में धारण किया। यह सब काम ईश्वर का नहीं हो सकता। संसार के लोग ईश्वर को अवतार लेने वाला बताकर झूठी बातें कहते हैं॥ 5-6॥ कहते हैं ईश्वर खम्भा फाड़कर तथा नृसिंह अवतार लेकर प्रकट हो गया, और हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़कर उसे मार डाला। इस बात पर बहुत-से भोले विश्वास करते हैं। परन्तु ऐसा नाटक करने वाला ईश्वर नहीं हो सकता॥ 7-8॥ ईश्वर ने वामन रूप धारणकर और राजा बलि से तीन पग पृथ्वी मांगकर तथा उन्हें धोखा देकर

उनका सारा राज्य ले लिया, यह ईश्वर का काम नहीं है। मांगना-जांचना तो मायावी असमर्थ जीवों का काम है। परन्तु बिना विवेक अवतारवाद के भ्रम में पड़कर संसार के सारे लोग भटक रहे हैं। वस्तुतः मन के माया, कल्पना एवं अज्ञान ने जगत के लोगों को भटका दिया है॥ 9-10॥ ईश्वर ने ही परशुराम बनकर हैहय-वंशीय क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्या की है, यह कहना बिलकुल गलत है। परशुराम तो क्रोधी होने से मायावी जीव थे। क्रोधाभिभूत होकर रक्तपात करने वाला तो माया-वश होकर अपने आप को ही छल रहा है। भक्ति का आलंबन तो राग-द्वेष से पूर्णतया मुक्त पुरुष सद्गुरु है, मारकाट करने वाले संसारी जीव नहीं। परन्तु भ्रांत लोग यह रहस्य नहीं जानते और वे जीवों को अवतारवाद का मिथ्या उपदेश देते हैं॥ 11-12॥ अनन्त विश्व-ब्रह्मांड के रचयिता ईश्वर ने दशरथ-पुत्र श्रीराम बनकर सीता से विवाह नहीं किया और न उसने सीता के उद्धार के लिए समुद्र पर पत्थर का पुल ही बनाया॥ 13॥ अतएव जो राघवेंद्र श्रीरामचन्द्र को एक ईश्वर मानकर उनका भजन-पूजन करता है, वह विवेक का उपयोग नहीं करता॥ 14॥ ईश्वर कृष्ण बनकर गोपी-ग्वालों के बीच गोकुल में नहीं आया और न उसने कंस की हत्या की॥ 15॥ क्योंकि ईश्वर तो सबके ऊपर कृपा करने वाला होगा। अतएव उसने न किसी पर विजय पायी और न हार॥ 16॥ पंडित लोग कहते हैं कि ईश्वर ने बुद्ध रूप में अवतार लेकर और असुरों को वेद तथा वैदिक कर्मकांड से वंचित कर उन्हें पतित कर दिया। इसका मतलब यह कि बुद्ध तो ईश्वर हैं और बौद्ध पतित असुर हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यह बौद्ध मत को गिराने के लिए पंडितों की चाल है। बुद्ध को ईश्वर का अवतार कहना झूठी बात है। न ईश्वर बुद्ध हुआ और न उसने असुरों को पतित किया॥ 17॥ जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता का वास्तविक बोध न होने से लोग पहले एक जगतकर्ता ईश्वर का भ्रम खड़ा करते हैं और उसके बाद अपना स्वार्थ साधने के लिए उसके नाना अवतारों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः मनुष्य के मन की माया ने जगत को भ्रमा दिया है॥ 18॥ वह ईश्वर तथाकथित कल्कि अवतार नहीं लेगा और न कलिंग देश के राजा की हत्या करेगा॥ 19॥ छल करना, जबर्दस्ती करना, यती-सती के चरित्र भ्रष्ट करना, यह सब ईश्वर का काम नहीं है, अपितु मायावी जीवों का काम है॥ 20॥ जिन लोगों ने उक्त दसों को अवतार मानकर तथा उनके चरित्र को ईश्वरी माया मानकर, उनकी पूजा की या करते हैं, वे तत्त्वविवेक से रहित हैं॥ 21॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जो पैदा होता और मरता है वह ईश्वर नहीं, किन्तु कर्मवश संसार में भटकने वाला जीव है॥ 22॥

व्याख्या—शास्त्रों में ईश्वर के विषय में कल्पना है कि वह सर्वत्र व्याप्त है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, न्यायी है, दयालु है इत्यादि। ऐसे ईश्वर के रहते हुए भी संसार में चोरी, मिलावटबाजी, व्यभिचार, हत्या, डाका तथा नाना अत्याचार होते हैं। यहां तक कि ईश्वर के ही नाम पर ईश्वरवादियों ने पुराकाल से मानव का खून बहाया है। मूक, मासूम, मानवेतर प्राणी ही नहीं, किन्तु धनबल, जनबल, शरीरबल, विद्याबलादि से कमजोर लोग भी बली अत्याचारियों द्वारा सदैव पीसे गये हैं, आज भी पीसे जा रहे हैं। ईश्वर सब जगह बैठा, सब कुछ जानता तथा सारा बल रखता हुआ भी मूकदर्शक बना असहाय की तरह जी रहा है। इस प्रकार ईश्वर के जितने लक्षण बताये हैं उन पर परख की कसौटी लगाने पर वह स्वप्न की तरह ज्ञान की जागृति होते ही उड़ जाता है। परन्तु भावुकों ने उसके अवतार भी पैदा कर लिये हैं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध 1, अध्याय 3, श्लोक 5 से 25 तक में अवतारों का वर्णन इस प्रकार है—

1. सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ब्रह्मचर्य पालन के लिए।

2. सूकर—पृथ्वी को रसातल से लाने के लिए।

3. नारद—उपदेष्टा के रूप में।

4. नर-नारायण—बदरिकाश्रम में तप के लिए।

5. कपिल—सांख्य शास्त्र का उपदेश करने के लिए।

6. दत्तात्रेय—ये भी उपदेशक थे।

7. यज्ञ—रुचिप्रजापति की पत्नी आकूति से उत्पन्न हुए स्वायम्भुव मन्वन्तर की रक्षा के लिए।

8. ऋषभदेव—परमहंस का आदर्श दिखाने के लिए।

9. पृथु—पृथ्वी से औषधियों को दुहने के लिए।

10. मत्स्य—डूबती हुई पृथ्वी को उबारने के लिए। शंखासुर वेदों को चुरा ले गया था, मत्स्य ने वेदों का उद्धार किया और शंखासुर को मारा।

11. कच्छप—समुद्र मथने में सहयोग करने के लिए।

12. धन्वन्तरि—समुद्र से अमृत का घड़ा लेकर प्रकट हुए।

13. मोहनी—देवता-दैत्यों का विवाद मिटाने के लिए।

14. नृसिंह—हिरण्यकश्यपु को मारने के लिए।

15. वामन—बलि को छलने के लिए।

16. परशुराम—क्षत्रियों को मारने के लिए।

17. व्यास—वेदों का विभाजन करने के लिए।

18. श्रीराम—रावण को मारने के लिए।

19-20. बलराम, कृष्ण—पृथ्वी का भार उतारने के लिए।

21. बुद्ध—वेद-विरुद्ध मत चलाने के लिए।

22. कल्कि—पृथ्वी का भार उतारने के लिए।

उपर्युक्त बाईस अवतारों का उक्त स्थान पर वर्णन है। परन्तु अन्यत्र से 'हंस' और 'हयग्रीव' को मिला देने से चौबीस हो जाते हैं। सनकादिकों को उत्तर देने के लिए 'हंस' अवतार तथा मधुकैटभ को मारने के लिए 'हयग्रीव' अवतार मानते हैं।

"अवतारवाद[1] की भावना हमें पहले-पहल 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलती है। प्रारम्भ में विष्णु की अपेक्षा प्रजापति को इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति ने ही मत्स्य (1/8/1/1), कूर्म (7/5/1/5; 14/1/2/11) तथा वराह (14/1/2/11) का अवतार लिया था। प्रजापति के वराह का रूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय संहिता (7/1/5/1), तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/1/3/6), तैत्तिरीय आरण्यक (10/1/8) तथा काठक संहिता (8/1) में भी प्रारम्भ रूप में विद्यमान है।"[2]

"इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्य, कूर्म तथा वराह अवतार प्रारम्भ में प्रजापति से सम्बन्ध रखते थे, किन्तु बाद में विष्णु का महत्त्व बढ़ जाने के कारण तीनों विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे। महाभारत के नारायणी उपाख्यान (12/326/72 तथा 12/337/36) तथा हरिवंशपुराण (4/41) में वराह तथा विष्णु का सम्बन्ध मान लिया गया है। आगे चलकर तीनों के नाम लेकर एक-एक महापुराण की सृष्टि हुई, जिसमें विष्णु से उनकी अभिन्नता प्रतिपादित है (देखिए मत्स्य, कूर्म तथा वराहपुराण)।[3]

"अन्य मुख्य अवतारों के प्राचीनतम उल्लेख इस प्रकार हैं। वामनावतार तथा नृसिंह अवतार प्रारम्भ से विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं। वामनावतार का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (2/1/3/1), शतपथ ब्राह्मण (1/2/5/5), तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/7/17) और ऐतरेय ब्राह्मण (6/3/7) में हुआ है। नारायणी उपाख्यान (महाभारत 12/326/75) तथा हरिवंश पुराण (1/41) में इसका विष्णु के अन्य अवतारों के साथ उल्लेख हुआ है। नृसिंहावतार की कथा पहले

---

1. एच. याकोबी : इनकारनेशन, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग 7। एम. मोनिएर विलियम्स : इं. विजडम, पृ. 318 आदि। एच. राय चौधरी : अर्ली हिस्ट्री ऑव वैष्णव सेक्ट, पृ. 96।
2. डॉ. कामिल बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद 140 से उद्धृत।
3. रामकथा, अनुच्छेद 140।

तैत्तिरीय आरण्यक के परिशिष्ट (10/1/6) में मिलती है। नारायणी उपाख्यान (12/326/73 और 337/36) तथा हरिवंश पुराण (1/41) में इसका उल्लेख है तथा विष्णु पुराण (1/16) में नृसिंह की कथा वर्णित है।

"परशुराम विषयक प्रारम्भिक कथाओं में इनके अवतार होने का निर्देश नहीं मिलता (महाभारत 3/115-117), किन्तु नारायणी उपाख्यान (12/326/77), हरिवंश पुराण (1/41/112-120) तथा विष्णु पुराण (1/9/143) में उनको विष्णु का अवतार माना गया है।

"प्रस्तुत सिंहावलोकन का निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मणों में तथा अन्य प्राचीन साहित्य में अवतारवाद विद्यमान है, किन्तु उन ग्रन्थों के रचनाकाल में न तो अवतारों की विशेष पूजा की जाती थी और न उसमें विष्णु का प्राधान्य था। कृष्णावतार के साथ-साथ अवतारवाद के विकास में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुआ—उस समय से लेकर अवतारवाद भक्तिभाव से ओतप्रोत होने लगा।

"वासुदेव कृष्ण भागवतों के इष्टदेव थे। प्रारम्भ में उनका तथा विष्णु का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी[1] का अनुमान है कि सम्भवतः तीसरी शताब्दी ई. पू. वासुदेव कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता की भावना उत्पन्न हुई थी। अवतारवाद के इस विकास का कारण प्रायः बौद्धधर्म से जोड़ा जाता है।[2] बौद्ध धर्म तथा भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग दोनों समान रूप से ब्राह्मण साहित्य के कर्मकांड तथा यज्ञ-प्रधान कर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न और विकसित हुए। इसके फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार लुप्त हो गया था। बौद्ध धर्म का अधिकाधिक प्रचार देखकर ब्राह्मणों ने भागवतों को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से भागवतों के इष्टदेव वासुदेव कृष्ण को विष्णु-नारायण का अवतार मान लिया है।"[3]

"इससे अवतारवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला, साथ-साथ विष्णु का भी महत्त्व बढ़ने लगा। इस तरह अवतारवाद की सारी भावना धीरे-धीरे विष्णु-नारायण में केन्द्रीभूत होने लगी और वैदिक साहित्य के अन्य अवतारों के कार्य विष्णु में ही आरोपित किये गये।

"एक ओर अवतारवाद की भावना फैलती जा रही थी, दूसरी ओर कई शताब्दियों से राम का आदर्श चरित्र भारतीय जनता के सामने रहा था। रामायण

---

1. दे. अर्ली हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव सेक्ट, पृ. 63।
2. दे. एच. चौधरी, वही, पृ. 63। एम. मोनिएर विलियम्स, वही, पृ. 328/सी.वी. वैद्य, वही, पृ. 25।
3. तैत्तिरीय आरण्यक (10/1/6) में वासुदेव तथा विष्णु की अभिन्नता का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है।

की लोकप्रियता के साथ-साथ राम का महत्त्व भी बढ़ता रहा। उनकी वीरता के वर्णन में अलौकिकता की मात्रा भी बढ़ने लगी। रावण पाप और दुष्टता का प्रतीक बन गया और राम पुण्य और सदाचरण का। अतः इस विकास की स्वाभाविक परिणति यह हुई कि कृष्ण की भांति राम भी विष्णु के अवतार माने जाने लगे। राम तथा विष्णु की अभिन्नता की धारणा कब उत्पन्न हुई, इसका ठीक समय निर्धारित करना असंभव है। फिर भी अवतारवाद उत्तरकांड में इतना व्याप्त है कि इसे उत्तरकांड की अधिकांश सामग्री के पूर्व का मानना चाहिए। अतः बहुत सम्भव है कि पहली शताब्दी ई.पू. से ही रामावतार की भावना प्रचलित होने लगी थी। रामायण के प्रक्षेपों के अतिरिक्त महाभारत तथा वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, मत्स्य, हरिवंश आदि प्राचीनतम पुराणों में अवतारों की तालिका में राम दाशरथि का भी नाम आया है।"[1]

उपर्युक्त लम्बे उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अवतारवाद की कल्पना पहली बार शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में हुई जो ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। इसमें बताया गया कि प्रजापति ने मत्स्य (मछली), कूर्म (कछुआ) तथा वराह (सूअर) का अवतार धारण किया। ये तीनों ही अवतार मात्र काल्पनिक हैं।

वामन अवतार की कल्पना तैत्तिरीय संहिता में आती है। यह भी ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व की ही रचना मानी जाती है। वामन अवतार की कल्पना ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 22वें सूक्त के अन्तिम (16/21) छह मंत्रों से उद्‌भूत मानी जाती है। उसके इस सम्बन्ध में मुख्य दो मंत्रों को यहां उपस्थित किया जाता है। "विष्णु ने इस जगत की परिक्रमा की। उन्होंने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलियुक्त पैर से जगत छिप-सा गया। विष्णु जगत के रक्षक हैं। उनको आघात करने वाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मों को धारणकर तीन पैरों का परिक्रमा किया।"[2]

विष्णु सूर्य है। उसकी किरणें उसके पैर हैं। उनका पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में पड़ना उसके तीन पैर पड़ना है। भारतीय-अभारतीय सभी वेद-विद्वान इस तथ्य को समझते हैं। परन्तु पीछे वालों ने इस सूत्र से एक कहानी बना ली कि विष्णु ने वामन बन राजा बलि को छलकर तीन पद में उनके सारे राज्य (भूमंडल) को नाप लिया था। कथा ऐसी भोड़ी बनायी गयी जिसमें विष्णु

---

1. डॉ. कामिल बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद 141 से 143 तक।
2. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूळमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्॥
(ऋग्वेद 1/22/17-18) टीका रामगोविन्द त्रिवेदी। इण्डियन प्रेस प्रयाग।

को छली सिद्ध किया गया तथा बताया गया कि उसने एक धर्मात्मा राजा बलि के साथ विश्वासघात किया। पुराणों में बताया गया है कि विष्णु इन्द्र के छोटे भाई हैं। इन्होंने अपने बड़े भाई इन्द्र की गद्दी स्थापित करने के लिए बलि को धोखा दिया। इन्द्र तथा विष्णु के सम्बन्ध का भी सूत्र इसी सूक्त में मिल जाता है—"इन्द्रस्य युज्यः सखा।"[1] अर्थात विष्णु इन्द्र के साथी तथा मित्र हैं। पुराणों के अनुसार कश्यप की एक पत्नी दिति से बलि आदि दैत्य पैदा हुए थे तथा दूसरी पत्नी अदिति से इन्द्र, विष्णु आदि देवता पैदा हुए थे। दैत्य-देवता का अर्थ पापी एवं पुण्यात्मा नहीं है, किन्तु ये गोत्र मात्र थे जो माताओं के नाम पर चले थे। देवता तथा दैत्य दोनों में अच्छे-बुरे होते थे; बल्कि देवता अधिक विषयी-पामर होते थे और दैत्य संयमी। पौराणिक इन्द्र तथा बलि के चरित्र से ही यह जाना जा सकता है।

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम जितने भी अवतारों की कल्पना की गयी है, उनमें से कोई भी पूज्य नहीं हुआ। अवतारों के अंतिम छोर में उदित हुए राम तथा कृष्ण ही पूज्य हुए हैं। वस्तुतः श्रमणों (बौद्धों एवं जैनों) के उत्तारवाद की प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने अवतारवाद की कल्पना की। जैनों तथा बौद्धों में महावीर एवं बुद्ध दो महान पुरुष हो गये। जैनों तथा बौद्धों द्वारा माना गया कि उत्तारवाद के सिद्धान्त से महावीर तथा बुद्ध महान एवं पूर्ण पुरुष हो गये।[2] यह स्वाभाविक कथन था। इसके उलटे ब्राह्मण परंपरा में अवतारवाद का विकास हुआ, कि पूर्ण परमात्मा उतरकर साधारण मनुष्य बन गया। पहले कृष्ण को अवतार मान लिया गया और गीता में कृष्णावतार पूर्ण विकसित हुआ। तब तक राम के विषय में अवतार की मान्यता नहीं थी। उन्हें तब तक केवल वीर धनुर्धारी ही माना जाता था। इसीलिए गीताकार ने श्री कृष्ण के मुख से श्री राम के लिए कहलवाया—"रामः शस्त्रभृतामहम्"[3] अर्थात मैं शस्त्रधारियों में राम हूं। तार्किक अध्येताओं के मतानुसार ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व तक कृष्णावतार की कल्पना हो चुकी थी तथा रामावतार की कल्पना ईसा से सौ वर्ष पूर्व हुई। परन्तु तब तक रामादि चारों भाइयों को विष्णु का केवल अंशावतार माना गया। राम को पूर्ण परब्रह्म तो ईसा के बारह-तेरह सौ वर्ष बाद बनाया गया और उसके फल में अध्यात्म रामायण बनी, फिर ईसा के सोलह सौ वर्ष बाद गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा मानस की रचना हुई, जिसमें श्री राम

---

1. ऋग्वेद 1/22/19।
2. उत्तार का अर्थ है सामान्य जीव का ऊपर उठ जाना, दूसरों से बढ़ जाना, मुक्त हो जाना तथा अवतार का अर्थ है महान सत्ता का ऊपर से उतरकर नीचे आ जाना।
3. गीता 10/31।

को सभी ऋषियों-मुनियों का पूज्य तथा अनंत ब्रह्मांड-नायक परब्रह्म मान लिया गया। इस प्रकार अवतारवाद की वेदों में तो कोई गुंजाइश नहीं है। पीछे के साहित्यों में मछली, कछुआ, सूअर, नरपशु आदि की अवतार रूप में कल्पना होती गयी और बहुत पीछे कृष्ण तथा राम को अवतार मानने की बात प्रचलित हुई।

ऊपर का विवेचन साहित्य में अवतारवाद के विकास पर हुआ। अब यह विचारना है कि अवतारवाद तर्क में क्या टिकता है ! सद्गुरु ने इस शब्द में यही तो कहा है।

विश्व अनंत देश तथा काल-व्यापी है। विश्व के मुख्य दो घटक जड़ और चेतन हैं। उनमें उनके अपने गुण-धर्म अंतर्निहित हैं। उन्हीं से जगत की व्यवस्था अनादिकाल से अबाध गति से चल रही है। इसमें इनसे पृथक किसी ईश्वर की कल्पना करना वस्तुतथ्य को न समझने का परिणाम है। परन्तु यदि हम थोड़े समय के लिए मान भी लें कि एक सर्वसमर्थ सर्वव्यापी ईश्वर है, तो उसे अवतार लेकर एवं देह धारणकर संसार में कुछ करने के लिए आने की आवश्यकता नहीं है। जिसके निमेष-उन्मेष से अनंत विश्व-ब्रह्मांड के उत्पत्ति तथा प्रलय माने जायें, उसे किसी कीट सदृश प्राणी को मारने के लिए देह धरकर जीवनभर संसार में उलझना पड़े, यह एक हास्यास्पद धारणा है।

कहते हैं शंखासुर नाम का एक राक्षस था। वह ब्रह्मा के यहां जाकर वेदों को चुरा लाया और उन्हें समुद्र में छिपा दिया। अतएव विष्णु ने वेदों को पुनः प्राप्त करने के लिए मत्स्यावतार धारण किया और समुद्र में जाकर शंखासुर को मार गिराया तथा वेदों को वहां से ले आया। कबीर देव कहते हैं कि यह सब गलत है। ईश्वर तो दयालु बताया जाता है। वह किसी को मारने क्यों जायेगा? उसे किसी से द्रोह नहीं है। वह तो किसी को अपने सत्प्रेरणा मात्र से बदल सकता है।

पण्डित जन बताते हैं कि हिरण्याक्ष ने इस पृथ्वी को ले जाकर टट्टी में छिपा दिया था। अतएव विष्णु सूअर बनकर अपने थूथन (मुंह) से पृथ्वी को टट्टी से निकालकर ऊपर ले आये। हिरण्याक्ष सो रहा था। वह जगकर सूकरावतार भगवान से लड़ने लगा। बहुत दिनों तक युद्ध चला। अंत में सूअर-भगवान ने हिरण्याक्ष को मार गिराया और पृथ्वी का उद्धार किया। सद्गुरु कहते हैं उस ईश्वर को सूअर बनकर न युद्ध करने की आवश्यकता हो सकती है और न पृथ्वी को मुख में उठाने की। पृथ्वी तो अपनी धारणा एवं गुरुत्वा शक्ति से स्वयं धारित है। सूअर बनना, पृथ्वी उठाना, युद्ध करना आदि काम साहेब के नहीं हैं। संसारी लोग झूठी-झूठी बातें उड़ाते हैं।

कहते हैं हिरण्यकश्यपु अपने पुत्र प्रह्लाद को विष्णु की भक्ति करने से रोकता था और वह बलात विष्णु की भक्ति करता था। इसलिए हिरण्यकश्यपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को काफी दण्ड दिया। अन्त में उसे लोहे के गरम खंभे में बंधवा दिया, तो ईश्वर नर तथा सिंह का मिलित रूप बनाकर तथा खंभा फाड़कर निकल आया और हिरण्यकश्यपु को मार डाला। कबीर साहेब कहते हैं कि इस कथा पर सबको बड़ा विश्वास है—"खंभ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई।" परन्तु "हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।" वह भला सर्वसमर्थ सर्वत्र व्याप्त ईश्वर हो सकता है जो किसी की बुद्धि अपनी सत्प्रेरणा से न बदल सके और नर-पशु बनकर हत्या करना ही उसका चारा रह जाये ! ईश्वर ने एक प्रह्लाद को बचाने के लिए खंभा फाड़ डाला, परन्तु चंगेज खां, नादिरशाह, गजनवी, मिलावटखोरों, जमाखोरों, घूसखोरों, रक्तचूसकों, शोषकों, निर्बल-पीड़कों आदि को मारकर जनता की रक्षा करने के लिए उसने आज तक कोई खंभा नहीं फाड़ा। कबीर साहेब कहते हैं कि हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़ने वाला ईश्वर नहीं हो सकता।

"बावन रूप न बलि को जाँचे" ईश्वर वामन रूप बनाकर राजा बलि से भीख नहीं मांगेगा। भीख मांगना, छल करना मायावी मनुष्यों का काम है। ऊपर उदाहरण दे आये हैं कि ऋग्वेद के प्रथम मंडल के बाइसवें सूक्त में जो यह आया है कि विष्णु ने तीन प्रकार से पैर रखे। इसका अर्थ है सूर्य की किरणों का पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में पड़ना। परन्तु इससे पौराणिकों को वामन-बलि की कहानी गढ़ने में सरलता हो गयी। भोले पंडितों ने यह भी नहीं सोचा कि इस कहानी से हम ईश्वर को मंगन तथा छली सिद्ध कर रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि लोग बिना विवेक के अवतारवादी धारणाओं में भटक रहे हैं। माया एवं कल्पना ने इनकी मिट्टी पलीद कर दी है।

पुराण कहते हैं कि ईश्वर ने ब्राह्मण परशुराम बनकर क्षत्रियों की अथवा हैहयवंशी क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्याएं कीं। यह भी ईश्वर का एक मखौल और उसे हत्यारा सिद्ध करना है। यह वास्तव में क्षत्रियों की वरीयता की प्रतिक्रिया में गढ़ी गयी कल्पना है। ईश्वर परशुराम बनकर क्षत्रियों को क्यों मारेगा ! मारकाट करना तो क्रूर एवं छली मनुष्यों का काम है। ऐसे छली या हत्या करने वालों को ईश्वर वही मानेगा जिसे सद्गुरु की भक्ति नहीं प्राप्त है, जिसने सद्गुरु से यथार्थ का भेद नहीं जाना है। ऐसे लोग ही जीवों के मन में मिथ्या मान्यता का आरोपण करते हैं।

अनंत विश्व-व्यापी जगत-स्रष्टा ईश्वर दशरथ का लड़का बनकर सीता से अपना विवाह करने नहीं आयेगा। उसके वियोग में वह पेड़-पौधों, नदी-पर्वतों

से उसका पता नहीं पूछेगा। न वह वाली को छिपकर धोखे से मारेगा, न पत्थरों से पुल बनाकर लंका पर हमला करेगा और न उसको लेकर वह लाखों-करोड़ों का वध करेगा। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता उसकी बुद्धि की क्या प्रशंसा की जाये ! क्या ईश्वर को ग्वालों के साथ गाय चराना, नारियों के साथ रास करना या कंसादि को मारना पड़ सकता है? क्या यह सब काम ईश्वर के हो सकते हैं? क्या यही ईश्वर-लक्षण हैं?

अवतारवाद की भावना जब काफी बढ़ गयी थी, तब अवतारवादियों को बौद्धों को नीचा दिखाने के लिए एक मीठे जहर की युक्ति सूझी। यह युक्ति ईसा के करीब छठीं या सातवीं शताब्दी में सूझी।[1] अवतारवादियों ने कहा कि ईश्वर ने असुरों की बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए बुद्ध का अवतार लिया और उसने असुरों को बताया कि वेदविहित यज्ञ करने पर हिंसा होती है। अतएव यज्ञ मत करो। यह उपदेश सुनकर जितने असुर थे वे अहिंसक एवं यज्ञ-हीन हो गये। वे ही सब बौद्ध कहलाये। इसमें पंडितों की चालबाजी यह कि बुद्ध तो ईश्वर हैं। उनकी हम पूजा करेंगे, परन्तु बौद्ध असुर हैं। वे वेद-विरोधी हैं। उनका नरक होगा। भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार है—"कलियुग आ जाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र रूप में आपका (ईश्वर का) बुद्धावतार होगा।"[2] पुराण लेखक तो सदैव यही लिखते हैं कि अमुक काल में यह होगा, वह होगा; जिससे यह सिद्ध हो कि लेखक सर्वज्ञ एवं त्रयकालदर्शी है। उसने यह सब पहले लिख दिया है। परन्तु उक्त श्लोक का लेखक ऐसा सर्वज्ञ तथा त्रयकालदर्शी था कि इतना भी नहीं जानता था कि बुद्ध गोरखपुर के भी पश्चिमोत्तर लुंबनी में पैदा हुए थे; पूर्व-दक्षिण मगध में नहीं। लेखक बुद्ध को अजन का पुत्र बताता है जबकि वे सुद्धोदन के पुत्र थे।

कबीर साहेब कहते हैं कि न बुद्ध ईश्वर के अवतार हैं, न उन्होंने दैत्यों की बुद्धि भ्रष्ट की थी और न बौद्ध दैत्य या असुर हैं। यह सब चालाक पंडितों का छलपूर्ण वाक्-जाल है। ऐसा छल केवल बुद्ध तथा बौद्धों के साथ ही नहीं किया गया है किन्तु आदि शंकराचार्य एवं कबीर साहेब के लिए भी किया गया है। शंकराचार्य की प्रतिष्ठा कम करने के लिए प्रसिद्ध वैष्णव माध्वाचार्य के शिष्य त्रिविक्रम (गृहस्थ) के पुत्र नारायण ने मणिमंजरी और मध्वविजय—इन

---

1. आर.सी. हाजरा : एनल्स भंडारकर इंस्टिट्यूट, भाग 18, पृ. 321। बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद 144।
2. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
   बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीटकेषु भविष्यति॥ (भागवत, स्कंध 1, अध्याय 3, श्लोक 24)

दो ग्रन्थों द्वारा शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान नामक दैत्य का अवतार कहा है।[1] पद्मपुराण का लेखक शिव के मुख से शंकराचार्य को गिराने की चेष्टा करता है। वह शिव के मुख से कहलाता है—"माया की कल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बुद्धमत का ही छिपा हुआ रूप है। हे देवि ! मैंने ही कलियुग में एक ब्राह्मण (शंकराचार्य) का रूप धारणकर इस मिथ्या सिद्धान्त का प्रचार किया था।"[2] कबीर साहेब की पैनी तर्कपूर्ण वाणियों से लोगों के अपने बनाये कल्पित जाल जब कटने लगे, तब कितने तथाकथित पंडितों ने कहना शुरू किया कि कबीर के शरीरान्त के बाद उनके शरीर में एक दानव घुस गया था। उसी ने कबीर की शक्ल में उपस्थित होकर खंडन-मंडन की वाणियां कहीं हैं। पण्डित कितना चालाक होता है ! वह कबीर का आदर बनाये रखकर उनकी वाणियों को अविश्वसनीय बना देना चाहता है। बुद्ध के साथ भी यही किया गया और शंकराचार्य के साथ भी।

"ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।" यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। जिन्हें कारण-कार्य व्यवस्था तथा जड़-चेतन का ज्ञान नहीं है, जिन्हें विश्वसत्ता के नियमों का बोध नहीं है, वह इस संसार से अलग इसका बनाने वाला एक कर्ता की कल्पना करता है। वह सोचता है कि जैसे घड़ा का बनाने वाला एक कुम्हार है वैसे संसार का बनाने वाला एक ईश्वर है। यह मन की माया-कल्पना से ही उत्पन्न हुआ भ्रम है जिसमें सब भटक रहे हैं।

विश्व में मुख्य दो मूल तत्त्व हैं एक जड़, दूसरा चेतन, जिन्हें पुराकाल में सांख्य दर्शन ने क्रमशः प्रकृति और पुरुष कहा है। जड़ प्रकृति में अनेक तत्त्व हैं। वे सब मूलतः अनादि-अनंत हैं। उनमें अपने स्वभावसिद्ध गुण, धर्म, क्रियादि हैं जो अनादि-अनंत हैं। इससे जगत-सृष्टि प्रकृति के अपने स्वभावसिद्ध गुण-धर्मों से सदा से स्वाभाविक चल रही है। इसमें अलग से बनाता कौन, क्या है?

धार्मिकों ने प्रकृति का प्रायः उदारतापूर्वक अध्ययन नहीं किया है। वे कहते हैं प्रकृति तो जड़ है। उसमें स्वयं क्रिया कैसे होगी ! अतएव इससे अलग रहने वाला कोई ईश्वर प्रकृति में क्रिया पैदा करता है। उन अक्ल के धनी लोगों को समझना चाहिए कि जड़ प्रकृति के सारे तत्त्व एवं जड़-कण स्वाभाविक क्रियाशील हैं। जड़तत्त्वों में स्वभावसिद्ध एवं अंतर्निहित क्रिया ही तो उनकी

---

1. महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 215, संस्करण 1964।
2. मायावादमसच्छास्त्रम् प्रच्छनं बौद्धमेव च।
   मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा। (पद्मपुराण, उत्तरखंड 236)

सम्पत्ति है, जिससे सृष्टि निरंतर विद्यमान रहती है। पूर्वी या पश्चिमी हवा चलती है, तब इसका अर्थ यह नहीं है कि तथाकथित ईश्वर पूर्व या पश्चिम की तरफ जाकर उधर से हवा को ढकेलता है, किन्तु अपने दाब के नियमों से हवा स्वयं चलती है। पानी बरसने के प्रकृति में जितने नियम हैं उनकी योग्यता होने पर पानी स्वयं बरसता है। इसमें चाहे किसी का लाभ हो या हानि; और जब योग्यता नहीं रहती, तब नहीं बरसता इसमें भी चाहे किसी की हानि हो या लाभ। प्रकृति जड़ है। वह यह नहीं जानती कि वर्षण, अतिवर्षण या अवर्षण से किसी की हानि होती है या लाभ होता है। इस वर्ष 1987 ई. का अतिवर्षण तथा अवर्षण प्रमाण हैं। जहां उत्तरी बिहार में गांव के गांव बह गये, वहां राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा तथा भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर अवर्षण से त्राहि-त्राहि मची है। क्या यह सब दयालु, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर कर रहा है! भक्त लोग ईश्वर की इतनी दुर्दशा क्यों कर रहे हैं? झरने तथा नदियां ईश्वर की प्रेरणा से बहते हैं; चांद, सूरज, तारे उसी के इशारे पर चमकते हैं, फूल वही खिलाता है, पानी वही बरसाता है; भूचाल, दावाग्नि, ज्वालामुखी सब ईश्वर की प्रेरणा के फल हैं—यह सारी कल्पना के कूड़ा-कबाड़ मनुष्य के अज्ञान, पक्षपात एवं अंधविश्वास के फल हैं। जड़ प्रकृति अपने अंतर्निहित गुण-क्रियाओं से स्वयं समर्थ है, जिससे सृष्टि-क्रिया निरंतर चलती रहती है। जड़ प्रकृति से मूलतः सर्वथा भिन्न असंख्य अविनाशी चेतन जीव अपने कर्म-वश देह धरते-छोड़ते रहते हैं। उनमें से जो मानव शरीर में सत्संग-बोध प्राप्त कर पवित्राचरण करते हुए स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लेते हैं, वे इसी जीवन में कृतार्थ एवं मुक्त भी हो जाते हैं। इन सबके लिए अलग से किसी कल्पित ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। परन्तु सद्गुरु का वचन सच है "ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।" वास्तविकता के ज्ञानहीन लोग कर्ता के भ्रम में पड़े रहते हैं। इनके मन की माया ने, इनके मन की कल्पना ने इनकी मिट्टी पलीद कर दी है।

"वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा।" पंडितों की कल्पना है कि वह ईश्वर कलियुग के अंत में कलिंगदेश के राजा या दुष्ट रजवाड़ों को मारने के लिए कल्कि नाम से अवतार लेगा और तलवार ले तथा घोड़े पर बैठकर दुष्टों पर हमला करेगा। यह सब लिखते समय न मोटर थी न वायुयान, न बन्दूक थी न तोप और न बम। तब केवल तलवार, धन्वा-बाण अस्त्र-शस्त्र थे तथा घोड़े, हाथी तथा रथ की सवारी थी। इसलिए पुराण लेखक ने कल्कि भगवान की सवारी घोड़ा तथा शस्त्र तलवार घोषित किया है। यदि लेखक बेचारा भविष्यद्रष्टा होता तो वह लिखता कि कल्कि भगवान वायुयान पर

बैठकर अणुबम, परमाणुबम आदि की दुष्टों पर वर्षा करेगा। और यदि इन्हें वह ज्यादा खतरनाक समझता तो मशीनगन तथा तोप का प्रयोग कराता। कबीर साहेब कहते हैं ईश्वर को कल्कि नहीं बनना पड़ेगा, और न कलिंगदेशीय व्यक्तियों को मारना पड़ेगा।

"ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा।" सद्गुरु कहते हैं कि अवतार माने गये जितने हैं उनके चरित में छल-बल की बातें ज्यादा हैं। छल करना, बलपूर्वक किसी पर आक्रमण करना यह सब संसारी मनुष्यों के काम हैं। यती, सती-पतिव्रता एवं सत्यवादियों को उनके पथ से हटाकर उन्हें पतित करना, यह सब काम विवेकवान के नहीं हैं। बलि को छलना, वाली को छिपकर मारना, युद्ध में धोखा देकर भीष्म, द्रोणाचार्य, मेघनाद आदि को मारना, वृन्दा का सतीत्व नष्ट करना, क्षत्रियों का इक्कीस बार घोर संहार करना आदि सब मायावी मनुष्यों के काम हैं। इन सब को ईश्वर या ईश्वरावतार कहना अत्यन्त भोलापन है। अन्त में सद्गुरु कहते हैं—

"दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा। कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा।" अर्थात दस या चौबीस अवतारों की कल्पना करना और उन्हें किसी सर्वसमर्थ ईश्वर की माया बताना और उन कल्पित अवतारों की पूजा करना—सब सत्यज्ञान से रहित लोगों के काम हैं। अवतारी (ईश्वर) तथा अवतार दोनों ही मनुष्यों के मन की कल्पनाएं हैं। क्योंकि उपजने-विनशने वाला एवं जन्मने-मरने वाला कभी जगत का कर्ता नहीं हो सकता।

उपर्युक्त चौबीसों में से श्रीराम, श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध आदि कुछ महापुरुष तो ऐतिहासिक हैं। शेष काल्पनिक हैं। यों अवतार तो उतरने एवं जन्म लेने को कहते हैं, सभी कर्मी जीवों के अवतार होते हैं। राम-कृष्णादि भी अपने पूर्वजन्मों के कर्म-वश जन्म लिये, सुख-दुख भोगे एवं शुभाशुभ कर्मों में अपनी जीवनलीला व्यतीतकर शरीर त्याग कर गये। वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड का इक्यावनवां सर्ग देखने से श्रीराम का कर्म-फल-भोग विदित होता है। श्रीकृष्ण भी 'जरा' नामक व्याध के बाण से विंधकर शरीर त्याग करते हैं। (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 11, अध्याय 30)

अवतारवाद मनुष्य के मन में हीनभावना उत्पन्न करता है। यहां तक देश और धर्म पर संकट आने पर अवतारवादी उसके निवारण के लिए स्वयं यत्न नहीं करता। वह सोचता है हम तुच्छ जीवों में क्या बल है जो कुछ कर सकें, जब अधिक संकट या पाप बढ़ जायेगा, तब ईश्वर अवतार लेकर स्वयं सब काम कर देगा। प्रकट है जब विधर्मियों द्वारा सोमनाथ के मन्दिर को लुट जाने की संभावना हुई, तब उसके पुजारियों ने अन्य कोई यत्न नहीं किया और भगवान के भरोसे वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रह गये। उसका परिणाम हुआ कि

करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी, मन्दिर ध्वस्त किया गया और शिवलिंगी तोड़ी गयी।

मनुष्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक यह न समझ ले कि मनुष्य से बड़ा कोई नहीं। किसी ईश्वर, दैव अथवा अवतार के भरोसे सोते रहने का व्यसन बहुत बड़ा अनर्थ उत्पन्न करता है। ईश्वर, दैव और अवतार की कल्पना मनुष्य के मस्तिष्क के उस अन्धकारमय प्रदेश से होती है, जिसमें वह अपनी दुर्बलताओं को संजोकर अवकाश की सांस लेना चाहता है।

वास्तव में यह आत्मा ही जब महात्मा हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। काम, क्रोध एवं राग-द्वेष पर सर्वथा विजयी पुरुष ही 'ईश्वर, परमात्मा, दैव या ब्रह्म है।' श्रीमद्भागवत भी कहता है—

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ (11/19/44)

"जिसके चित्त में असन्तोष है वही दरिद्र है, जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही कृपण है। समर्थ, स्वतन्त्र और ईश्वर वह है जिसकी चित्तवृत्ति विषयों में आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयों में आसक्त है, वही सर्वथा असमर्थ है।"

व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक सुधार के लिए प्रेरणा

शब्द-9

सन्तो बोले ते जग मारे॥ 1॥
अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे॥ 2॥
पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे॥ 3॥
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे॥ 4॥
दुन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी॥ 5॥
श्वान बापुरा धरिन ढाकनो, बिल्ली घर में दासी॥ 6॥
कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी॥ 8॥

शब्दार्थ—अनबोले ते=चुप रहने से। काछे=हटाये। दुन्दुर=मेढक, तामसी, कटु-भाषी। विषहर=विषधर, सर्प, चमचे। खवासी=सेवकाई। श्वान=आचरणहीन। बिल्ली=लोलुप व्यवस्थापक। कार=कर्तव्य। दुकार= अकर्तव्य। कार=कर्तव्य। बैल=विवेकहीन। पटवारी=गुरु। भैंसे=तामसी एवं मूढ़।

उलटवांसी रूपक—हे सन्तो! सत्य बात कहने पर जगत के लोग मारने दौड़ते हैं। परन्तु चुप रहने से कैसे कल्याण होगा! शब्दों पर तो कोई विचार

नहीं करता। पुत्र ने पहले जन्म लिया, पीछे पिता का जन्म हुआ। पिता और पुत्र की एक ही नारी है। इस आश्चर्य को कोई समझे। मेढक टीकाधारी राजा बन गया। विषधर सर्प उसकी सेवा करने लगा। बेचारे कुत्ते ने अपनी पूंछ से पृथ्वी को ढक दिया। बिल्ली घर में दासी बनकर सेवकाई करने लगी। कर्तव्य-अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताकर बैल पटवारगीरी करने लगे। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! भैंसे विवाद पर न्याय देने लगे।

व्यावहारिक भावार्थ—हे सन्तो ! सत्य कहने से जगत के लोग मारने दौड़ते हैं॥ 1॥ परन्तु चुप रहने से कैसे बनेगा ! शब्दों पर कोई विचार नहीं करता है॥ 2॥ पहले मनुष्य पुत्र के रूप में जन्म लेता है, वही पीछे कभी पिता बनता है। यदि उसने पुत्रत्व का पार्ट अच्छा अदा किया है तो आगे चलकर वह अच्छा पिता बनेगा॥ 3॥ पिता और पुत्र में ही संसार के सारे लोग होते हैं और ये दोनों एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं; अतएव यदि नारी का सुधार हो जाये, वह सुसंस्कारी हो जाये, तो मानो सारे संसार का सुधार हो जाये। अथवा पिता और पुत्र दोनों एक ही नारी जाति से विवाह करते हैं, अतएव नारी एवं गृहिणी मात्र का सुधार हो जाये तो जगत का सुधार हो जाये। परन्तु "बाप पूत की एकै नारी" के आश्चर्यजनक कथन के शब्द-शैवाल को हटाकर कोई उसके मर्म को समझे॥ 4॥ मेढक के समान तामसी और दुर्भाषी लोग तिलक कराकर राजा बन बैठे हैं, और सर्प के समान विषधर स्वभाव के लोग उनकी सेवकाई करने वाले तथा चमचे बन गये हैं, जो दोनों जनता के शोषक हैं॥ 5॥ कुत्ते बेचारे अपनी पूंछ से अपने गुप्तांग तक को नहीं ढक पाते, फिर यदि वे पूरी पृथ्वी को ढकने का उपक्रम करें तो यह हास्यास्पद ही है। वैसे जो लोग अपने ही आचरण को खोये हुए हैं यदि वे जनता के चरित्र-रक्षक बनने का ढकोसला करते हैं तो वे उनके तथा अपने साथ छल करते हैं। बिल्ली घर में दासी बन जाये तो वह घर के सभी खाद्य-पदार्थों पर दिन भर मुंह मारती फिरेगी। सद्गुरु कहते हैं कि बिल्ली की तरह लोलुपवृत्ति वाले व्यवस्थापक बन गये हैं। अतएव जनता के कल्याण के लिए राज-कोष से मिले हुए धन का बहुत हिस्सा बीच में ही गटक जाते हैं॥ 6॥ पटवारी जमीन की जांच-पड़ताल कर उसका कागज में लेखा-जोखा रखता है, इसी प्रकार धर्माचार्य एवं गुरु लोग जनता के धर्म की जांच-पड़ताल कर उन्हें धर्म की व्यवस्था देने वाले होते हैं। ये आज के अधिकतम धर्माचार्य और गुरु-रूपी पटवारी बैल के समान विवेकहीन हैं और ये कर्तव्य तथा अकर्तव्य—दोनों को कर्तव्य बताकर गुरुवाई करते हैं तथा लोगों को गलत व्यवस्था देते हैं॥ 7॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो ! भैंसे के समान तामसी एवं मूढ़ प्रवृत्ति के लोग धर्म के क्षेत्र में न्यायाधीश बनकर निर्णय देने का हास्यास्पद कार्य करते हैं॥ 8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने अपने जीवनकाल के समाज की समसामयिक स्थिति का यहां सुन्दर चित्रण किया है, जिसमें कुछ हिस्सा तो आज भी ज्यों-का-त्यों लागू होता है और कुछ हिस्सा थोड़ा रूप बदलकर लागू होता है।

कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रवीण हैं। संसार के कवियों में शायद उनकी जितनी उलटवांसी किसी ने न कही हो। उलटवांसी कहकर वे कथन में एक मनोरमता ले आते हैं और कथन के शुरू ही में अपने श्रोताओं एवं पाठकों को चौंकाकर उन्हें उत्साहित कर देते हैं। इसी शब्द में देखिए "सन्तो बोले ते जग मारे। अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे।" ये पंक्तियां कितनी रोचक, चौंकाने वालीं तथा कटुसत्य कथन करने की संभावना प्रकट करने वाली हैं। फिर तो इसके आगे उनकी उलटवांसियां चल पड़ती हैं जो शब्द के अंत तक जाती हैं, जो अर्थ समझने में सीधी, चुभने वाली तथा मन को मथने वाली हैं।

उनकी पहली बात है "पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे।" अर्थात पुत्र ने पहले जन्म लिया उसके बाद पिता ने जन्म लिया, यह बात कोई कहेगा तो सुनने वाला मारने दौड़ेगा ही। परन्तु जब वह इन शब्दों का मर्म समझ जायेगा, तब उनकी वाणी पर रीझ जायेगा। किसी को जब बच्चा पैदा होता है तब लोग यही कहते हैं कि अमुक के घर में अमुक को पुत्र हुआ है। आज तक यह किसी को कहते नहीं सुना गया कि अमुक के घर में पिता पैदा हुआ है। व्यक्ति पहले पुत्र के रूप में संसार में जन्म लेता है। वही आगे चलकर वर्षों में किसी दिन पिता बनता है। अतएव अच्छा पिता बनने के लिए अच्छा पुत्र बनना चाहिए। सभी घरों के पिता ही घर के व्यवस्थापक होते हैं। यदि उन्होंने पहले अपने पुत्रत्व रूप को निखारा है तो उनका पितृत्व रूप निश्चित ही निखरेगा। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि अच्छा पिता बनने के लिए पहले अच्छा पुत्र बने।

कबीर साहेब के इस अनुभव से मिलता-जुलता हुआ अनुभव है "बच्चा मनुष्य का पिता है।"[1] बच्चों को जब तक अच्छे संस्कार नहीं मिलते, वे आगे चलकर अच्छे पिता नहीं बन सकते। स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय के उन्मादी बच्चे यदि आगे चलकर अध्यापक बनेंगे, तो उनमें अधिकतम उन्मादी, कर्तव्य-च्युत एवं भ्रष्ट ही होंगे। बचपन में पड़े हुए संस्कार जीवन भर के लिए अमिट होते हैं। जिन्होंने अपने बच्चों को अच्छे संस्कार नहीं दिये उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी की नींव को बरबाद कर दिया। कबीर देव कहते हैं कि बच्चों में अच्छे संस्कार भरो जिससे वे आगे चलकर अच्छे पिता बनें।

अब बात है माता की एवं नारी जाति की। वे कहते हैं "बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोई काछे।" अर्थात बाप तथा पूत का जन्म एक ही नारी-

---

1. The Child is father of the Man.

जाति से होता है। अतएव यदि नारी-जाति शुद्ध-संस्कार ग्रहण कर ले, तो पूरी पीढ़ी ही सुधर जाये। पिता और पुत्र में संसार की सारी पीढ़ियां हैं। रमेश्वर पुत्र जगेश्वर। हर जगह केवल वल्दियत चलती है। संसार के सभी मनुष्य पिता-पुत्र में आ जाते हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बाप तथा पूत एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं। नारी सांचा है। सांचा ठीक है तो ईंट ठीक होगी और यदि सांचा टेढ़ा होगा तो ईंट टेढ़ी होगी। हर मनुष्य अपने आरंभिक रूप में माता के पेट में नौ महीने निवास करता है। गर्भकाल में माता का खाना गर्भस्थ शिशु का खाना है, माता का पीना उसका पीना है, माता का सांस लेना उसका सांस लेना है और माता का संस्कार ग्रहण करना उसका संस्कार ग्रहण करना है।[1] इसीलिए कहा जाता है कि गर्भवती नारी को बहुत सावधानी से रहना चाहिए। उसका खाना, पीना, पढ़ना, जीवन-व्यवहार तथा उसकी सारी क्रियाएं बड़ी पवित्र होनी चाहिए।

बच्चा पैदा होने के बाद भी माता की ही गोद में पलता है। जब वह खेलता तथा पढ़ता है तब भी माता के ही संरक्षण में रहता है। माता के दिए हुए संस्कार ही बच्चों में जीवनभर के लिए घर बना लेते हैं। माता का कितना महान उत्तरदायित्व है और उसका संतान के ऊपर या कहना चाहिए पूरे मानव समाज के ऊपर कितना बड़ा उपकार है, यह बात सोचते ही बनती है। इसलिए पिता से भी माता का स्थान ऊंचा है यह नीतिमान लोग कहते हैं। नीतिमान कहते हैं कि यदि माता-पिता साथ-साथ बैठे हों तो पहले माता का नमस्कार करो, बाद में पिता का। सीता तब राम, माता तब पिता, यहां तक कि प्रकृति तब पुरुष !

लोग बांस की फट्टी का ढांचा बनाकर उसमें पैरा भर देते हैं। ऊपर से मिट्टी। मिट्टी के ऊपर रंग-रोगन। पश्चात कपड़ा पहनाकर एक नारी का रूप खड़ा कर देते हैं, तब उसे कहते हैं कि यह जगदंबा है। मनुष्य ने ही उसे बनाया है। वह केवल जड़-ठाट है। वह एक चुहिया भी नहीं पैदा कर सकती। वह जगदंबा कैसे हो गयी? जगदंबा—जगत की माता, ये नारियां हैं, जो जीती-जागती हैं। इन्हीं से जगत के लोग पैदा होते हैं। इन्हीं से सबको संस्कार मिलते हैं। अच्छे संस्कार मिलने पर अगली पीढ़ी अच्छी होती है, बुरे संस्कार मिलने पर अगली पीढ़ी बुरी होती है। अतएव इन माताओं की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि ये अपनी संतानों को अच्छी शिक्षा दें। उन्हें अपने पवित्र आचरणों से अच्छे संस्कार दें। इसके लिए नारियों की भी अच्छी शिक्षा होनी चाहिए।

---

1. वेद में एक सुन्दर वचन आता है—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।" (अथर्ववेद 11/5/3) अर्थात गुरु ने ब्रह्मचारी-शिष्य को अपने निकट कर लिया, अपने गर्भ में ले लिया। मां शिशु को अपने गर्भ में लेकर अपने अंगों से पालती है, वैसे गुरु शिष्य को अपनी शरण में लेकर उसका आध्यात्मिक पालन करता है।

कबीर साहेब समसामयिक राजाओं का भी चित्र खींचते हैं। "दुंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।" दुंदुर कहते हैं मेढक को। मेढक राजा बने और विषधर सर्प उसकी सेवकाई करे, यह उलटवांसी है। मेढक तामसी और मूढ़ होता है। उस समय कितने ही राजे-महाराजे लुटेरे, डाकू तथा तामसी होते थे और कितने मूढ़ होते थे जो पिता के मर जाने पर उनकी गद्दी पर बैठाये जाते थे और उनकी सेवकाई करने वाले चमचे आचरण से विषधर होते थे। वे ही राज-काज में रांग-राइट करते रहते थे। कहना न होगा कि आज भी इस चित्र को राज-काज में देखा जा सकता है। आज मंत्री ही राजा हैं और कितने गलत आचरण वाले आजकल मंत्री बन जाते हैं। कितने तो शिक्षित भी नहीं होते हैं। ऐसे लोगों के लिए विगत पंद्रहवीं शताब्दी में कहा हुआ कबीर साहेब का यह वचन "दुंदुर राजा टीका बैठे" आज भी वैसे ही सटीक है जैसे उस समय था। "विषहर करै खवासी" तो आज के लिए पूर्ववत पूर्णतया चरितार्थ होता है। पूर्व के राजाओं के चाटुकार विषधर चमचे आज के मंत्रियों की शरण में चले गये हैं।

"श्वान बापुरा धरिन ढाकनो" कुत्ते बेचारे ने ढक्कन रख दिया। कुत्ता अपने गुप्तांग को अपनी पूंछ से नहीं ढक पाता है, परन्तु वह अपनी पूंछ से सबकी इज्जत ढांकने का ढोंग करने लगा। यह भी व्यंग्य भरी उलटवांसी है। जो कुत्ता अपनी इज्जत नहीं ढक पाता है वह यदि सारे संसार की इज्जत बचाने वाला बने अर्थात संसार का चरित्र-रक्षक बने तो हास्यास्पद ही है। इसी प्रकार जो राजनेता तथा शासक अपने चरित्र को खोये हुए हैं, वे यदि जनता के चरित्र-रक्षक, चरित्र-निर्देशक एवं आचरण-संहिता के निर्माता हैं तो मानव की चरित्र-नाव संसार-सागर में डूबना ही है। स्वयं चरित्रहीन व्यक्ति दूसरे की चरित्र-रक्षा नहीं कर सकता। जिसने स्वयं को खो दिया है, वह दूसरे को क्या तृप्ति दे सकेगा !

"बिल्ली घर में दासी" यह भी व्यंग्य है। बिल्ली हर खाद्य वस्तु पर मुख मारना चाहती है। बिल्ली की लोलुपता जगत-प्रसिद्ध है और वह यदि घर की दासी एवं व्यवस्थापिका बन जाये तो क्या पूछना ! उसको बहार हो जायेगी। कबीर साहेब के जमाने में ऐसा रहा होगा, परन्तु आज तो नजरोनजर देखते हैं कि सरकार के प्रायः हर विभाग रूपी घर में बिल्ली दासी बनी हुई है। लोलुप लोग व्यवस्थापक बने हुए हैं। स्कूली बच्चों के जलपान के लिए आयी हुई सामग्री लोग चुरा लेते हैं। गरीबों तथा पिछड़ों के लिए सरकार द्वारा दी गयी सहायता-राशि विभागीय अफसरों एवं कर्मचारियों द्वारा अधिक-से-अधिक हड़प लेने का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार के सारे विभागों में प्रायः "बिल्ली घर में दासी" उक्ति चरितार्थ हो रही है। हर विभाग के व्यवस्थापकगण

लोलुप बिल्ली बने दूसरे के हक और जनता की खुराक हड़प रहे हैं। एक बार सूखा के समय सरकार ने गरीब माताओं के बच्चों के लिए बांटने के लिए सूखे दूध के पैकेट भेजवाये। एक कर्मचारी उसमें से निकाल-निकालकर कई दिनों तक खीर बनाकर खाता रहा। कुछ दिनों बाद जब उसका इकलौता लड़का मर गया, तब उसे बड़ी पीड़ा हुई। अपनी करनी का फल तो सब को मिलता है, परन्तु जरा देर लगती है। इसलिए बदहवास आदमी नहीं समझ पाता कि अपनी करनी का फल भोगना पड़ता है। "बिल्ली घर में दासी" आज के सरकारी विभागों के व्यवस्थापकों पर कैसी करारी चोट है, समझते ही बनता है।

इस शब्द में आठ पंक्तियां हैं। उनमें प्रथम की दो पंक्तियों में कबीर साहेब अपने संभावित कथन के लिए कुतूहल उत्पन्न करते हैं। उसके बाद की दो पंक्तियों में गृहस्थी जीवन के सुधार के लिए बालकों और नारियों के महत्त्व एवं उनके सुसंस्कारित होने के मूल्य का संकेत करते हैं। उसकी अगली दो पंक्तियों में राजा, उसके चमचे, चरित्रनायक तथा व्यवस्थापकों पर करारा व्यंग्य कर उनको सुधरने के लिए प्रेरित किया गया है। इसके आगे अब सातवीं तथा आठवीं पंक्ति में धार्मिक गुरुओं एवं न्याय देने वालों पर व्यंग्यात्मक संकेत हैं।

"कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी।" बैल विवेकहीन के लिए व्यंजना है। पटवारी धर्माचार्यों एवं गुरुओं के लिए है, जो धार्मिक जांच-पड़ताल करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं आज-कल कितने धर्माचार्य एवं गुरु हैं जो स्वयं विवेकहीन हैं और दूसरों के धर्म के अनुशास्ता बने हैं। वे अपने धार्मिक समाज तथा शिष्यों को कर्तव्य तथा अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताते हैं। कितने ऐसे गुरु एवं धर्माचार्य हैं जिनके यहां खाद्य-अखाद्य सब खाद्य है, भोग-योग सब बराबर है। उनके लिए न कुछ विधि है और न निषेध। बहुत बड़े समाज को अपनी ओर प्रभावित करने के लिए क्या-क्या हथकंडे नहीं अपनाये जाते हैं। जिनके उपदेश में करने योग्य कर्म तथा न करने योग्य कर्म सभी करने योग्य हैं, उनके उपदेश से जनता की क्या दशा होगी, यह सहज समझा जा सकता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी।" भैंसे तामसी एवं मूढ़ जीव होते हैं। रास्ते में बैल जा रहे हों, उन्हें एक बार हांक दो, तो वे फरफराकर भागते हुए आगे बढ़ जायेंगे। परन्तु रास्ते में भैंसे चल रहे हों, उन्हें डांटो और डंडे भी मारो तो भी वे टस-से-मस नहीं होंगे। गाय के बछड़े पैदा होते ही उछलने तथा कूदने लगते हैं और भैंस के पड़वे खड़े-खड़े ऊंघते रहते हैं। अतएव भैंसे तामसी, भद्दे एवं मूढ़ होते हैं। कबीर साहेब अपने समय में कह रहे हैं कि आज के न्याय देने वाले अधिकतम धार्मिक नेता भैंसे के स्वभाव के हो गये हैं। वे तामसी हैं। उनके विचार कुंठित हैं। धर्म के प्रति दिये हुए उनके न्याय अविवेकपूर्ण तथा स्वार्थलिप्त हैं। कहना न होगा कि यह बात आज भी

.उसी प्रकार लागू है। आज शिक्षा बढ़ गयी है, किन्तु बुद्धि तथा आचरण में कोई सुधार नहीं हुआ है। आज अनेक धार्मिक गुरु शिक्षित भैंसे हो गये हैं। यदि उनका ज्ञान वस्तुपरक नहीं है और आचरण मानवतापूर्ण नहीं है, तो पढ़ने-लिखने से क्या हुआ ! बल्कि शिक्षित व्यक्ति यदि उलटी खोपड़ी का है तो वह अपनी सारी शिक्षा एवं विज्ञान का दुरुपयोग कर ज्ञान तथा आचरण के क्षेत्र में गलत विचार फैलायेगा, गलत न्याय देगा। कितने गुरु नामधारी धर्म के नाम पर कैसा अपना उल्लू सीधा करते हैं, वे किस तरह धर्म के नाम पर राजनीति के दावं खेलते हैं, वे धर्म के नाम पर लोगों को कैसा बेवकूफ बनाते हैं, यह सब आज भी कोई खूब देख सकता है। कबीर साहेब की व्यंग्यात्मक भाषा में यह भैंसे न्याव निबेर रहे हैं। तामसी बुद्धि वाले अपने जजमेंट दे रहे हैं।

इस प्रकार पूरा शब्द व्यंग्य तथा उलटवांसी से भरा है और मानव-समाज के हर पहलू के लिए प्रभावी प्रेरणा है।

आध्यात्मिक भावार्थ—हे संतो ! सत्य कहने से लोग मारने दौड़ते हैं, लेकिन चुप रहने से कैसे काम बनेगा ! कोई शब्दों पर विचार नहीं करता। पहले पुत्र का जन्म हुआ तब पीछे बाप ने जन्म लिया। अर्थात पहले मनुष्य जन्म लेता है तब पीछे वह ईश्वर की कल्पना करता है। मनुष्य ही तो ईश्वर का जन्मदाता है। इसीलिए जितने मनुष्य, उतने प्रकार ईश्वर की कल्पना है और बाप तथा पूत दोनों के लिए एक ही माया रूपी नारी बन्धन बनती है। इस आश्चर्यजनक स्थिति का कोई बिरला ही निवारण करता है। अर्थात कोई बिरला ही माया का त्याग कर जीव का कल्याण करता है। अविवेक ही दुंदुर राजा है, जो मनुष्य के हृदय रूपी राजसिंहासन पर आसीन है, उसकी सेवा में काम, क्रोध, लोभादि विषधर सर्प हैं। दंभ कुत्ता है जो अपनी चतुरता की पूंछ से अपनी बुराइयों को ढांकने के प्रयत्न में रहता है, परन्तु वह कभी नहीं ढकती। बुराइयां तो प्रकट होती ही हैं। विषयासक्ति एवं लोलुपता रूपी बिल्ली हृदय रूपी घर में दासी बनकर बैठी है जो सब समय भोगों का स्मरण कराती तथा भोगों पर झपट्टा मारती रहती है। अज्ञान रूपी बैल कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ को कर्तव्य बताकर पटवारगीरी कर रहा है। अर्थात हृदय में विधि-निषेध रहित अज्ञान एवं भ्रष्टता का साम्राज्य है। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो ! मनुष्यों के हृदय में तामसी बुद्धि रूपी भैंसे न्याय दे रहे हैं। अर्थात मनुष्य की निर्णय देने वाली बुद्धि तामसी हो गयी है। इसलिए जीवन के सारे ज्ञान एवं कर्तव्य उलझे हुए तथा मानव के लिए दुखदायी हो गये हैं। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि यदि उक्त बातें लोगों से कहीं जायें तो वे नाखुश होते हैं, परन्तु बिना कहे लोगों का कल्याण नहीं होगा, अतएव कहना है। 'सत्य कहौं खुश हो चाहे रूठे।'[1]

---

1. निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर।